स्वाध्याय मञ्जरी का अठारहवाँ पुष्प

वैदिक-स्वप्न-विज्ञान

(प्रथम भाग)

लेखक—
भगवद्दत्त वेदालङ्कार

सम्वत् २००६ की भेंट

स्वाध्याय मञ्जरी का १८वाँ पुष्प

वैदिक-स्वप्न-विज्ञान

(प्रथम भाग)

लेखक—
पं० भगवद्दत्त वेदालंकार

श्रद्धानन्द-स्मारक-निधि के सभासदों की सेवा में
गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी की
ओर से २००६ की भेंट

मूल्य दो रुपया

प्रकाशक —

मुख्याधिष्ठाता
गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी
हरिद्वार (सहारनपुर)

प्रथम संस्करण—१०००
संवत् २००६

मुद्रक—
पं० हरिवंश वेदालंकार
गुरुकुल मुद्रणालय
गुरुकुल कांगड़ी

विषय सूची

श्रुति विभाग

(दुःष्वप्न-प्रकरण)

प्राक्कथन

"वैदिक स्वप्न विज्ञान" पुस्तक का प्रथम भाग आपके समक्ष उपस्थित है। इस पुस्तक का बहुत सा अंश स्वाध्याय मण्डल औंध से प्रकाशित होने वाले "वैदिक धर्म" पत्र में सन् १९४३ में प्रकाशित हो चुका है। इस सम्बन्ध में कई सन्मान्य महानुभावों की शुभ सम्मति व सत्परामर्श मुझे मिले। उनमें से कई विद्वानों की यह प्रेरणा थी कि स्वप्न सम्बन्धी आधुनिक दृष्टिकोण से तुलनात्मक विवेचन भी अवश्य होना चाहिये। उनकी यह प्रेरणा बिल्कुल ठीक थी। विचार यह था कि पुस्तक की भूमिका में दोनों दृष्टिकोणों का विवेचन अवश्य हो जाना चाहिये। परन्तु कई कारणों से यह न हो सका। अब विचार यह है कि पुस्तक के द्वितीय भाग में वैदिक व आधुनिक दोनों दृष्टिकोणों का विवेचन अवश्य दिया जाये।

'वैदिक स्वप्न विज्ञान' के इस प्रथम भाग को हमने वेद और उपनिषदों तक ही सीमित रक्खा है। पुस्तक के द्वितीय भाग में सूत्रग्रन्थ, दर्शन, वैद्यक ग्रन्थ इत्यादि पुस्तकों के स्वप्न सम्बन्धी विवेचन को लेते हुए शुभ और अशुभ, भूत व भविष्य आदि दृष्टिकोणों से स्वप्नों पर विचार किया जायेगा। और साथ में आधुनिक जगत् के मनोवैज्ञानिक व मनो-

विश्लेषण कर्ता फ्रायड आदि की स्वप्नों के पढ़ने व स्पष्टीकरण की जो शैली है उस परभी विचार करने का प्रयत्न किया जायेगा ।

कईयों के मन में यह शंका पैदा हो सकती है कि स्वप्न पर विचार करने से कोई लाभ भी है कि नहीं ।

इस शका के समाधान में कई लाभ दिखाये जा सकते हैं । स्वप्न दोष आदि व्याधियां तो स्पष्ट हैं ही जिनके नियन्त्रण करने में स्वप्न के विश्लेषण करने की अत्यन्त आवश्यकता होती है । परन्तु एक सब से उत्कृष्ट लाभ यह है कि मनुष्य किस कोटि का है और किस स्तर पर है, यह हम स्वप्नों से ही अच्छी प्रकार जान सकते हैं । जागते हुए तो बाह्य जगत् की धाराओं ने मनुष्य की बुद्धि व विवेक आदि को वह रूप (Set up) दिया हुआ होता है कि मनुष्य का असलियत क्या है ? यह प्रकट होने नहीं पाता । जागते हुए मनुष्य में बाह्य प्रदर्शन बहुत ज्यादः होता है । जैसा वह नहीं है, वसा वह अपने को दिखाता है । क्योंकि अहंकार, लोकलाज, समाजभय आदि बाह्य प्रभाव जो कुछ वह है, वैसा उसे प्रकट होने नहीं देते । यदि स्वार्थ आन्तरिक न्यूनता तथा अहंकार आदि के वश वह कभी कोई अनुचित बात कर भी बैठता है, तो उसको ठ क सिद्ध करने के लिये युक्ति व प्रभाव आदि का जाल बिछा देता है । इसी प्रकार और भी कई ऐसी प्रच्छन्न शक्तियां कार्य क रही होती हैं कि मनुष्य अपने असली रूप को जानना चाहता हुआ भी नहीं जान सकता ।

इस प्रकार जागृतावस्था में मनुष्य अपने को नहीं पहचान सकता यदि वह पहचान सकता है तो स्वप्नों से ही पहचान सकता है । और जिस मनुष्य ने अध्यात्म में जाना है, उसे तो अपने रूप व स्तर को सर्व प्रथम

जानने की अत्यन्त आवश्यकता है। इस लिये स्वप्न मनुष्य के परखने की सर्वोत्तम कसौटी है।

वेदों व अन्य शास्त्रों ने भी इस स्वप्न को बड़ा महत्व दिया है। अथर्व वेद का सम्पूर्ण १६वां काण्ड और अन्य काण्डों के कुछ सूक्त व फुटकर मन्त्र तथा अन्य वेदों के भी कुछ मन्त्र ये सब स्वप्न का वर्णन करते हैं। जब वेदों ने ही इसको इतना महत्व दिया है तब तो प्राचीन गुह्य स्तरों में से स्वप्नों को बाहिर प्रकाश में लाना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है।

हम यह समझते हैं कि वेदों पर लिखते हुए दो बातों पर अवश्य ध्यान देना चाहिये। एक तो मन्त्रों में प्रतिपादित विषय का स्पष्टीकरण हो, और दूसरा प्रकरण भी पूरा का पूरा लगता हो। जब विचारक सूक्तों में से फुटकर मन्त्रों को चुनकर अपने विषय का प्रतिपादन करते हैं, तब यह अधिक सम्भावना रहती है कि अभीष्ट अर्थ प्रकरण से सामञ्जस्य न रखता हो।

इस दृष्टि से अभी हमारा प्रयत्न वेद के प्रकरणों को स्पष्ट करने का होना चाहिये। इसलिये हमने इस पुस्तक में स्वप्न सम्बन्धी प्रकरणों को अविकल रूप से ही देने का प्रयत्न किया है।

यह प्राय: सम्पूर्ण पुस्तक ६–७ वष पहले लिखी जा चुकी थी। अब प्रकाशन के समय हम इसमें कुछ परिवर्तन व परिवर्धन करना चाहते थे। परन्तु पुस्तक प्रकाशन का समय इतना स्वल्प था कि इसमें कुछ भी परिवर्तन व परिवर्धन न किया जा सका।

वेदों के स्वप्न सम्बन्धी प्रकरण को लेकर अभी तक स्वतन्त्र रूप से कोई भी पुस्तक हमारे देखने में नहीं आयी इस दृष्टि से हम यह समझते हैं कि इस प्रकार का यह प्रथम प्रयास ही है। दूसरे इस सम्बन्ध में जो विद्वान् अन्य कोई सुझाव देंगे उसका हम स्वागत करेंगे।

अन्त में भगवान् से यह विनम्र प्रार्थना है कि वह हमें शक्ति व दिव्य प्रकाश देवे जिससे कि हम वेदों के रहस्यों को समझने में समर्थ हो सकें।

विद्वानों की सम्मतियां

स्वर्गीय श्री महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज—

इसमें जरा भी सन्देह नही है कि इस ग्रन्थ के तय्यार करने में लेखक ने बड़ा परिश्रम किया है। और बड़ी खोज के साथ उसकी पूर्ति की है। स्वप्न निद्रा से सम्बन्धित हिन्दी भाषा में कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ भी नहीं था। इसलिये लेखक के प्रयास को प्रत्येक को आदर की दृष्टि से देखना और उससे लाभ उठाना चाहिये। मैं इस नवीन रचना के लिये उन्हें बधाई देता हूं।

श्री शान्त स्वामी अनुभवानन्द जी महाराज—

मैंने आपके लिखे 'स्वप्न विज्ञान'' विषयक ६ लेख पढ़े हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आपने परिश्रम किया है, और इसमें ईश्वर की कृपा से सफल भी हुए हैं। अथर्व को जिन कारणों से शूद्र की पदवी दी जाती है, उनमें से तीन कारण मुख्य हैं। अर्थात् स्वप्न, शकुन, ऐतश प्रलापिक सूक्त और कृत्या विषयक सूक्त। ये तीनों यदि वैदिक भावना के प्रकाश रखने योग्य सिद्ध किये जा सकें तो यह कम साहस व कम सफल प्रयत्न

नहीं कहे जा सकते। इस दृष्टि से प्रस्तुत पुस्तक अत्यन्त विचार पूर्ण लिखा गया है।

श्री पं० इन्द्र जी विद्यावाचस्पति संचालक 'वीर अर्जुन" दिल्ली—

"वैदिक स्वप्न विज्ञान" पढ़ लिया! उत्तम है, आपने बहुत परिश्रम किया है। वेद के विद्यार्थियों के लिये उपादेय वस्तु है।

श्री डा० मङ्गलदेव जी शास्त्री; प्रिंसिपल गवर्नमेंट संस्कृत कॉलिज बनारस।

श्री पं० भगवद्दत्त जी वेदालङ्कार द्वारा लिखित "वैदिक स्वप्न विज्ञान" नामक निबन्ध के कुछ स्थलों को सुनकर मुझे वास्तव में बड़ी प्रसन्नता हुई। निबन्ध में स्वप्न के विषय में वैदिक साहित्य की दृष्टि से जो गम्भीर विवेचना की है वह सर्वथा सराहनीय है और इस विषय पर नये प्रकाश को डालने वाली है। इस विद्वत्ता पूर्ण निबन्ध के लिये हम हृदय से लेखक महाशय का अभिनन्दन करते हैं।

श्री डा० वासुदेव शरण जी अग्रवाल, अध्यक्ष एशियन एंटिक्विटी म्यूजियम, नई देहली।

आपका 'स्वप्न विज्ञान' लेख मैं 'वैदिक धर्म' में देखता रहा हूँ उसने मेरा ध्यान आकर्षित किया था। उसे आपने अच्छे ढंग से लिखा है और उसमें पर्याप्त सामग्री का संकलन है। मानव जीवन के लिये यह शास्त्र बहुत महत्त्वपूर्ण है। जिस व्यक्ति के स्वप्न ठीक हैं, जो युक्त स्वप्न'

है वही मेरी दृष्टि में योगी है। उसी के विचार संयत व मन स्वाधीन हो गया है। खंडित असंयत स्वप्नों से मस्तिष्क अशान्त, अस्थिर बना रहता है। Suggestions and outo-Suggestion [सुशंसन और आत्म शंसन] इस विज्ञान में पाया जाता है। Psycho Analysis भी अन्ततः स्वप्न विज्ञान के अन्तर्गत हैं।

श्री पं० नरदेव जी शास्त्री वेदतीर्थ —

यह लेख माला औंध के 'वैदिक धर्म' में निकल चुकी है। आगरा जेल में हमको "वैदिक धर्म" देखने को मिलता था। उसी में हमने इस लेख माला को पढ़ा था। हिन्दी साहित्य में स्वप्न विषय पर कोई साहित्य देखने में नहीं आया। लेखक का परिश्रम स्तुत्य है।

श्री पं० विश्वबन्धु जी शास्त्री अध्यक्ष विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान।

आपका प्रयत्न सराहनीय है, और इस बारे में किये गये भारी परिश्रम का सूचक है। इसी ढंग से एक २ विषय को लेकर अध्ययन करने से ही प्राचीन दृष्टियों का सर्वाङ्ग-सम्पूर्ण परिचय प्राप्त किया जा सकेगा।

श्री पं० वागीश्वर जी संस्कृतोपाध्याय गुरुकुल कांगड़ी—

श्री पं० भगवद्दत्त जी वेदालंकार द्वारा लिखित 'ऋभु देवता' और 'वैदिक स्वप्न विज्ञान" को ध्यान पूर्वक पढ़ा है। इन्हें पढ़कर मैंने

अनुभव किया है कि पंडित जी में स्वाध्याय शीलता, लगन तथा परिश्रम के साथ मौलिक विचार करने की शक्ति ने मिलकर सोने में सुहागे का काम किया है।

'ऋभु देवता' ग्रन्थाकार में छप चुका है। "वैदिक स्वप्न विज्ञान' में स्वप्न के कारण उसके भेद, दुःस्वप्न निवारण आदि महत्वपूर्ण विषयों पर शरीर शास्त्र तथा मनोविज्ञान आदि की दृष्टि से सुन्दर तथा गम्भीर विचार किया गया है। मन्त्रार्थ योजना भी उत्तम हुई है।

वैदिक स्वप्न-विज्ञान

प्रथम अध्याय

१. मनुष्य की तीन अवस्थाएं—

वैदिक साहित्य में साधारण मनुष्य की जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएं बताई गई हैं। इन तीनों में ठीक २ सीमा निर्धारण (line of demarcation) करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। सामान्य मनुष्य यह समझते हैं कि दिन में हमारी जागृतावस्था होती है परन्तु यह भ्रान्ति है। दिन में भी मनुष्य की अधिकतर स्वप्नावस्था ही होती है। इन तीनों अवस्थाओं में जागृत व सुषुप्ति अवस्था तो बहुत थोड़ी होती है। स्वप्नावस्था में मनुष्य की इन्द्रियादिकों का बाह्य जगत् से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। रात्रि में तो यह सम्बन्ध-विच्छेद होता ही है, परन्तु दिन में भी यह बहुतायत से होता है। मनुष्य स्वप्नावस्था रात्रि में ही मानते हैं इसमें यह कारण है कि वे अपनी इन तीनों अवस्थाओं में सूक्ष्म-विवेचन नहीं कर सकते। जागते हुए भी हम प्रायः स्वप्न लिया करते हैं। वेदों व अन्य वैदिक साहित्य में इसका बहुत विशद

विवेचन किया गया है। आधुनिक विद्वान भी दिवा-स्वप्न (Day-dream) के रूप में जिस अवस्था का वर्णन करते हैं, वैदिक साहित्य की दृष्टि से दिवा-स्वप्न की कई अवस्थाओं में वह एक अवस्था है। और वह भी अधूरी अवस्था है।

वस्तुतः स्वप्नावस्था के पूर्ण स्पष्टिकरण के लिए जागृत व सुषुप्ति अवस्थाओं तथा अन्य कई सम्बद्ध बातों के भी विवेचन की आवश्यकता है, परन्तु प्रस्तुत पुस्तक में ये सब बातें नहीं दिखाई जा सकतीं, इसलिये उन पर फिर कभी विचार किया जायेगा। इन तीनों अवस्थाओं के अतिरिक्त वैदिक साहित्य में मनुष्य की एक और अवस्था का भी वर्णन आता है जिसको कि तुरीय अवस्था कहते हैं। यह अवस्था किंही विरले ही आदमियों को प्राप्त होती है और स्वप्न से इसका किसी प्रकार का सम्बन्ध भी नहीं है। इसलिये इस अवस्था पर विचार करने की यहां कोई आवश्यकता नहीं है।

स्वप्नावस्था जाग्रत् व सुषुप्ति के बीच की अवस्था है इस बात को बृहदारण्यकोपनिषत् ४/३/ १५-१६ कण्डिकाओं में अच्छी प्रकार स्पष्ट कर दिया है। वहां पर नदी में पड़े हुए एक बड़े मच्छ के उदाहरण द्वारा यह दिखाया गया है कि जिस प्रकार मच्छ नदी के इस तट से दूसरे तट की ओर आवागमन करता रहता है. उसी प्रकार मनुष्य भी स्वप्नावस्था की धारा में पड़ा हुआ जाग्रत् व सुषुप्ति के सिरों को छूता रहता है। इस उदाहरण से यह तो स्पष्ट है कि जीवन की धार में जागृत व सुषुप्ति तो दो पार्श्व व सिरे हैं जिनको कि मनुष्य-स्पर्श मात्र करता है असली धारा तो मध्य की स्वप्नावस्था ही है। इसलिये मनुष्य जीवन में स्वप्नावस्था का बड़ा महत्व है जो कि सामान्य मनुष्यों की दृष्टि में बहुत गौण अवस्था है।

२ स्वप्न शब्द का अर्थ—

स्वप्न शब्द वैदिक साहित्य में जिन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है उसको देखते हुए हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि स्वप्न में ये दो बातें अवश्य होती हैं।

१. बुद्धि व इन्द्रियां आदि का बाह्य जगत् से सम्बन्ध विच्छेद होना।
२. मन का अन्तर्लीला करना।

स्थूल दृष्टि से पहली को निद्रावस्था तथा दूसरी को स्वप्नावस्था कह दिया करते हैं। परन्तु वैदिक साहित्य में जिसे स्वप्नावस्था कहा है अथवा स्वप्न का जो पूर्ण लक्षण हो सकता है, उस में ये दोनों बातें अवश्य होती हैं। इसको हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि स्वप्न के दो पार्श्व हैं एक इन्द्रियादिकों का बाह्य जगत् से सम्बन्ध-विच्छेद होना और दूसरा मन का अन्तर्लीला करना। परन्तु स्वप्न शब्द के ये दोनों पार्श्व परस्पर सम्बद्ध होते हुए भी संस्कृत साहित्य में हम ऐसा भी देखते हैं कि कई स्थलों पर इस स्वप्न शब्द का प्रयोग कुछ और ही ढंग से हुआ है। उदाहरण के तौर पर एक स्थान पर यह स्वप्न शब्द केवल निद्रा के लिये आया है तो दूसरे स्थान पर केवल मन की अन्तर्लीला को ही बता रहा है। इस सम्बन्ध में हमें यह याद रखना चाहिये कि ऐसे प्रयोगों में भी स्वप्न के दूसरे पार्श्व-जिस पर कि बल नहीं दिया गया है उसको उसके अन्तर्गत ही समझना चाहिये। फिर भी हम वेदादि शास्त्रों में स्वप्न शब्द के प्रयोगों को देखते हुए यह कह सकते हैं कि स्वप्न मनुष्य की एक अवस्था-विशेष है जिसकी ये दो शर्तें हैं कि इन्द्रियों का बाह्य जगत् से सम्बन्ध न रहना और मन की अन्तर्लीला होना।

इसलिये ऐसा लक्षण करने पर स्वप्न से रात्रि-स्वप्न, दिवा-स्वप्न, आदि सभी प्रकार के स्वप्नों का ग्रहण हो जायगा। इसी बात को दृष्टि में रखकर वैदिक साहित्य में भिन्न २ स्वप्नों के अलग २ लक्षण नहीं किये। दिन के तथा रात्रि के सभी प्रकार के स्वप्नों का एक ही नाम "स्वप्न" आता है। और मन की क्रिया की दृष्टि से देखा जाय तो रात्रि-स्वप्नों तथा दिवा-स्वप्नों में जगत् से सम्बन्ध-विच्छेद होने में केवल मात्रा का भेद है। यदि हम इन दोनों में कुछ विभिन्नता दिखाना ही चाहें तो तालिका में इस प्रकार दिखा सकते हैं।

मुख्य स्थान	गौण स्थान
निद्रा इन्द्रियों का बाह्य जगत् (Sleeping) से सम्बन्धविच्छेद	मन की अन्तर्लीला रात्रिस्वप्न
स्वप्न मन की अन्तर्लीला (Dreaming)	इन्द्रियों का बाह्य जगत् से सम्बन्ध-विच्छेद जाग्रत्स्वप्न

अर्थात् रात्रि में सोते हुए इन्द्रियों का बाह्य जगत् से सम्बन्धविच्छेद अधिक से अधिक मात्रा में होता है और उस अवस्था में मन की अन्तर्लीला गौण होती है। परन्तु जागृतावस्था में इन्द्रियों का बाह्य-जगत् से सम्बन्धविच्छेद रात्रि की अपेक्षा कम होता है और मन की अन्तर्लीला प्रधान रूप में होती है।

३. स्वप्न का सीमा—विस्तार—

प्रत्येक मनुष्य स्वप्न लिया करता है। वह यह तो जान लेता है कि अन्दर कुछ वार्तालाप या चर्चा सी होती है। घटना या दृश्य

से आते हैं परन्तु यह सब कहां होता है, क्यों होता है और कौन करता है ? इसे नहीं जानता होता। वैदिक साहित्य के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि यह सब चर्चा व घटना चक्र-आदि का स्वप्न में होना मन की क्रिया है। स्वप्न मन की बहुत सी अन्य क्रियाओं में से एक क्रिया है। अब विचारणीय यह है कि इस स्वप्न रूपी क्रिया की सीमा क्या है ! इस सम्बन्ध में संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जहां तक मन की पहुँच है वहां तक स्वप्न की सीमा है। इस बात को स्पष्ट रूप से समझने के लिये हमें मन के स्वरूप व शक्ति के सम्बन्ध में कुछ विचार करना चाहिये।

मन की सीमा ही स्वप्न की सीमा है—

वेद में दो प्रकार के मनों का वर्णन आता है। एक तो भगवान् व परम-पुरुष का मन है और दूसरा पुरुष व अन्य प्राणियों का है। भगवान् का जो मन है उसी से ही सम्पूर्ण संसार का निर्माण हुआ है। वेद में आता है कि "* जब सृष्टि बनने लगी तो सबसे पहले काम की उत्पत्ति हुई यह काम मन का रेतस् अर्थात वीर्य है।" इससे यह स्पष्ट है कि सारा संसार मन की उपज है इसलिये कई विचारक तो यह मानते हैं कि संसार में जो भी क्रियाएं हो रही हैं वे सब मन की क्रियाएं हैं। यह मन ही ब्रह्मा है जो कि सम्पूर्ण संसार को पैदा करने वाला है। भगवान का यह मन व्यापक है और इसी से प्रत्येक व्यक्ति का अपना मन बनता है।

---

१. * कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्
ऋ० १०. १२९. ४.

भेद केवल इतना ही है कि भगवान् का मनस्तत्व पूर्णशक्ति है और व्यक्ति का अपूर्णशक्ति है। परन्तु जो भी क्रियाएं भगवान् के मनस्तत्व में हैं वह ही व्यक्ति के मन में हैं या हो सकती हैं। इसी कारण वेद व उपनिषदादि ग्रन्थों में जहां मनुष्य के स्वप्न का वर्णन है, वहां ब्रह्म के स्वप्न का भी वर्णन आता है। यथावसर ब्रह्म सम्बन्धी स्वप्न की ओर भी हम कुछ संकेत करेंगे। परन्तु हमें यहां व्यक्ति के स्वप्नों का ज्ञान ही अधिक अभीष्ट है। इसलिये मनुष्य के स्वप्नों के स्वरूप को जानने के लिये हमें सबसे पहले यह जानना आवश्यक हो जाता है कि वैदिक साहित्य के आधार पर मन में क्या २ शक्तियां हैं? यजुर्वेद के ३४ वें अध्याय के प्रथम ६ मन्त्रों में मन की शक्तियों का संक्षेप में वर्णन किया गया है। उनमें दो एक मन्त्रों के आधार पर हम मानसिक शक्ति का कुछ विवेचन करते हैं।

प्रथम मन्त्र में कहा गया है कि "देवों वाला यह दिव्य मन जागृतावस्था में दूर निकल जाता है और इसी प्रकार सुप्तावस्था में भी वह दूर चला जाता है। वह दूर जाने वाला मन ज्योतियों का ज्योति अर्थात् इन्द्रियादि ज्योतियों का प्रकाशक है। ऐसा वह मेरा मन शिवसंकल्प वाला हो।

अब हम कुछ विस्तार से इस मन्त्र का स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न करते हैं। मन्त्र में कहा गया है कि ❀ (यज्जाग्रतो दूरमुदैति) जागृतावस्था में मनुष्य का मन दूर तक निकल जाता है।

❀ ओ३म् यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु ॥
यजु० ३४. १. ॥

विचारणीय यह है कि यहां पर दूरी का क्या भाव है ? इस सम्बन्ध में हम यह कह सकते हैं कि मनुष्य के मन की जाने की दूरियां तीन प्रकार की हो सकती हैं। जो कि निम्नप्रकार हैं —

१. पदार्थ के रहस्यावबोधन की दूरी
२. स्थान की दूरी
३. काल की दूरी

१. किसी पदार्थ का रहस्यावबोधन करते हुए उसके अन्तिम तथ्य तक पहुँच जाना यह पदार्थ के रहस्यावबोधन की दूरी है।
२. दूसरे चर्म चक्षुओं की सीमा से नितान्त दूर परम लोक तक का भी निरीक्षण कर लेना स्थान की दूरी कहला सकती है।
३. तीसरे दूर से दूर भूत व भविष्य का ज्ञान प्राप्त करना काल की दूरी कहलाती है।

ये तीनों प्रकार की दूरियां मन को क्षेत्र हैं। परन्तु इन दूरियों को छोटा करना या विस्तृत करना अथवा निकृष्ट बनाना या उत्कृष्ट बनाना मनुष्य के मन की सामर्थ्य व शक्ति पर निर्भर है। एक साधारण मनुष्य के मन की ये तीनों दूरियां बहुत ही छोटी व निकृष्ट रूप की होती हैं। इसके विपरीत बुद्धिमान् मनुष्य के मन की ये दूरियां बहुत विस्तृत हो जाती हैं। परन्तु योगी व ऋषि महर्षि की ये ही तीनों दूरियां पदार्थ के अन्तिम तथ्य रूप, भूत भविष्य के प्रायः अन्तिम छोर व परम पिता परमात्मा के परमधाम तक पहुंच जाती हैं कहने का भाव यह है कि साधारण मनुष्य का मन बहुत ही उथले क्षेत्र में विचरता है। उसका तीनों प्रकार का क्षेत्र बहुत छोटा होता है। इसके विपरीत ज्ञानी व योगी मनुष्य के मन के विचरण का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत होता चला जाता है। काल की दृष्टि से भी मनुष्य का मन बहुत दूर

तक भूत व भविष्य का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इस सम्बन्ध में ※ यजु ३४/४ मन्त्र में आता है कि 'जिस अमृत रूप मन ने इन सम्पूर्ण भूत, वर्तमान और भविष्यत् को सब प्रकार से चारों ओर से ग्रहण किया हुआ है" यहां प्रश्न यह हो सकता है कि भूत व भविष्य का कितना ज्ञान वह प्राप्त कर सकता है? इस सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि मन्त्र तो सारा (सर्वम्) भूत व भविष्यत् का ज्ञान मन को हो सकता है, ऐसा बताता है। स्वामी दयानन्द इस मन्त्र के भाष्य में लिखते हैं कि "हे मनुष्यों! जो चित्त योगाभ्यास के साधनों और उपसाधनों से सिद्ध हुआ भूत, भविष्यत् वर्तमान तीनों कालों का ज्ञाता सब सृष्टि का जानने वाला कर्म, उपासना और ज्ञान का साधक है उसको सदा ही कल्याण में प्रिय करो।

इस प्रकार स्वामी दयानन्द भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि भविष्य का ज्ञान मनुष्य को हो सकता है। और फिर मन्त्र में मन को अमर बताया है इसका भाव यही है कि वह विगत जन्मों और भावि जन्मों दोनों कालों में पूर्ण रूप से अवगाहन कर सकता है। नहीं तो मन को अमर बताने का कोई प्रयोजन ही नहीं रहता। इस प्रकार मन के विचरण का क्षेत्र बहुत दूर २ तक है।

आगे मन्त्र में यह कहा गया है कि सोते हुए भी यह मन उसी प्रकार दूर २ तक जाता है जिस प्रकार की जागृतावस्था में जाया करता है। (तदु सुप्तस्य तथैवैति) इससे यह पता चलता है कि मन के बाहिर विचरने में जागृत या सुप्त अवस्थाओं की

※ ओ३म् येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम्॥
यजु० ३४.४.

विभिन्नता कोई प्रभाव नहीं डालती। दोनों अवस्थाओं में मन अपना प्रायः एक जैसा ही आवागमन रखता है। दूसरी बात जो इस सम्बन्ध में कहनी है, वह यह है कि मन का बाह्य जगत् से सम्बन्ध इन्द्रियों द्वारा भी होता है और इन के विना स्वतन्त्र रूप से भी होता है। क्योंकि सुप्तावस्था में इन्द्रियादि सब सुप्त हो जाती हैं, परन्तु मन तब भी बाहिर की ओर जाता है और नये २ स्थानों व घटनाओं को देखता है। जागृत में पदार्थों के रहस्यों तथा अन्तिम सचाइयों का निर्णय तो होता ही है। परन्तु रात्रिस्वप्न में भी मनुष्य कभी कभी गूढ़ रहस्यों को ढूंढ निकालता है। और कभी न देखे हुए दूर देशस्थ स्थानों व घटनाओं आदि का सच्चा चित्र मन पर अंकित हो जाता है। दूसरे मनुष्य के मन का अन्तर्जगत् इतना विस्तृत है कि पिछले सब जन्म जन्मान्तरों के संस्कार उसमें सन्निहित हैं, उसी अन्तर्जगत् की जांच पड़ताल करता हुआ वह बहुत दूर तक जा सकता है। इस प्रकार मन्त्र के आधार पर हमें मन के सम्बन्ध में यह पता चलता है कि वह जागृत और सुप्त दोनों अवस्थाओं में बाह्य जगत् तथा अन्तर्जगत् में जाया करता है। आगे इसी मन्त्र (३४/१) में मन की एक और शक्ति की ओर निर्देश मिलता है, और वह यह कि यह मन ज्योतिरूप है। और यह ऐसी ज्योति है कि सब ज्योतियों में सबसे अधिक दूर जाने वाली है। (ज्योतिषां दूरङ्गमं ज्योतिः) दूर से दूर पदार्थों को यह मन रूपी ज्योति प्रकाशित कर सकती है। ब्रह्माण्ड में कोई ऐसी दूरी नहीं है जहां कि यह मन रूपी ज्योति न जा सकती हो और उस स्थान को प्रकाशित न कर सकती हो। वेद में एक स्थल पर

*(ऋ० १०/८१/४) यह प्रश्न किया गया है कि "भला वह कौन सा वन है और कौनसा वृक्ष है जिससे की यह द्यावापृथिवी घड़े गये हैं ?" इसके उत्तर में मन्त्र कहता है कि "हे मनीषियों! इस प्रश्न का उत्तर अपने मन से पूछो" इस प्रकार इस मन्त्र से यह पता चलता है कि मनुष्य के मन के अन्दर वह शक्ति है जिससे यह पता लग सकता है कि द्यावापृथिवी की रचना किस तत्व से हुई है। क्यों कि वह ज्योतियों की भी ज्योति है जो कि हमारे सामने सब कुछ प्रकाशित कर सकती है।

आगे एक मन्त्र में कहा है कि—

+"अर्थात् जिस प्रकार उत्तम सारथि घोड़ों को अपने अभीष्ट मार्ग की ओर ले जाता है और लगाम द्वारा उन को अपने नियन्त्रण में रखता है, उसी प्रकार यह मन मनुष्यों को अपने नियन्त्रण में रखता हुआ जिधर चाहता है, उधर ले जाता है।"

इस प्रकार उपर्युक्त मन्त्रों द्वारा हमने मानसिक शक्ति का संक्षेप से दिग्दर्शन कराया। परन्तु वास्तव में मन क्या वस्तु है ? उस की शक्तियों का अक्षय-भण्डार कितना है ? उस की पहुँच कहां तक है ? इत्यादि बातों का स्पष्ट रूपेण चित्रण करना बहुत कठिन है। लौकिक शब्दों में यदि हम कुछ कहना भी चाहें, तो यों कह सकते हैं कि मन एक ऐसा व्यापक पर्दासा है,

---

* किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेतदु यदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन् ॥

+"सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव"
यजु० ३४.६ ॥

जिस का कोई ओर छोर नहीं, जिस पर सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर जन्म जन्मान्तरों के अनुभव अंकित होते आये हैं। और भविष्य में होने वाली घटनाओं को भी जो आसानी से देख सकता है।

परन्तु यहां प्रश्न होता है कि यदि सम्पूर्ण विगत जन्मों में होने वाले अनुभवों के संस्कार मनरूपी पर्दे पर अंकित होते हैं, तो वे स्मरण क्यों नहीं होते? इस का उत्तर सामान्य भाषा में इस प्रकार हो सकता है कि, मन एक निरन्तर कार्य करने वाला तत्व है, हमारा बाह्य जगत् से इतना अधिक व घनिष्ट सम्बन्ध है कि, रात और दिन में कोई भी ऐसा समय नहीं जब कि, हमारे मन का बाह्य जगत् से पूर्णतया सम्बन्ध-विच्छेद हो जाये। बाह्य जगत् के अतिथि निरन्तर हमारे अन्दर प्रविष्ट हो रहे हैं, जिन के आवभगत करने में ही मन सदा लगा रहता है। इसी कारण अपने अन्तस्तल की पड़ताल करने का उसे समय ही नहीं मिलता। और फिर दिन के हमारे अनुभवों के संस्कार चित्र इतने गहरे होते हैं कि, रात्रि को सोते हुए भी वे हमारे सामने होते हैं। मन इन्हीं के झगड़े निबटाने में लगा रहता है। इसी जन्म की ही निकट भूत की बातें भी स्मरण नहीं रहती, अतीतजन्मों की तो बात ही अलग रही। योगियों को विगत जन्मजन्मान्तरों के पिछले अनुभव क्यों स्मरण हो आते हैं? इसका कारण ही यह है कि, उनका बाह्य जगत् से सम्बन्ध उतनी ही मात्रा में होता है कि, जितना उचित है। उन की संसार में स्थिति "पद्मपत्रमिवाम्भसः" जल में कमल के पत्ते की न्याईं होती है। उन का मन पर नियन्त्रण होता है। बाह्य जगत् के झगड़ों में फंसने का वे मन को अवसर ही नहीं देते। अथवा

बाह्य जगत् की घटनाएं उनके मन पर अंकित नहीं होने पातीं। इसलिये अन्त में उसे अन्दर की ओर दौड़ना पड़ता है। वह विगत जन्मों के संस्कारों को उठा उठा कर देखता है और उन्हें उलटता-पुलटता रहता है। अन्दर की एक एक वस्तु की वह पड़ताल करता है। यह है मन की शक्ति और योगियों के विगत जन्मों के संस्मरण का रहस्य। महर्षि पतञ्जलि ने भी अपने योगदर्शन में यही बात स्वीकार की है। वहां आता है:—

"संस्कारसाक्षात्कारकरणात् पूर्वजातिज्ञानम्"

अर्थात् संस्कारों के साक्षात्कार के करने से पूर्वजन्मों का ज्ञान हो जाता है। इस से भी यह स्पष्ट है कि, मन पर अंकित बातें कभी भी विनष्ट नहीं हुवा करतीं। उन को हम जब चाहें, तब उद्बुद्ध कर सकते हैं। इसी प्रकार स्वप्नावस्था भी संस्कारों को साक्षात् करने का एक बहुत उत्तम साधन है। योगी पुरुषों के संस्कार साक्षात्कार में तथा सामान्य मनुष्यों के स्वप्नावस्था में होने वाले संस्कारों के साक्षात्कार में विभिन्नता यह है कि, योगी का मन के ऊपर नियन्त्रण होता है और वह जहां चाहता है, वहां उसे ले जाता है। परन्तु सामान्य मनुष्य का मन पर कोई नियन्त्रण नहीं होता। मन अपने स्वाभाविक गुण के कारण असम्बद्ध व ऊटपटांग संस्कारों को उद्बुद्ध करता है।

यदि हम चाहें तो मन पर नियन्त्रण रख कर स्वप्नावस्था को पूर्वसंस्कार साक्षात्कार करने में उपयोगी बना सकते हैं। वैदिक शास्त्रों के आधार पर हम यहां तक कह सकते हैं कि, मनुष्य चाहे, तो वह अन्तस्तल की पड़ताल करके प्रायः सभी प्राणियों के स्वभाव, भाषा, तथा कार्य आदि का ज्ञान प्राप्त कर

सकता है। क्योंकि वह प्रायः सभी प्राणियों की योनियों में जन्म ले चुका होता है। उसके मन पर सब योनियों के स्वभाव, कार्य आदि के संस्कार अंकित होते हैं। केवल इतना ही नहीं वह अन्तर्मुख होकर संपूर्ण ब्रह्माण्ड का ज्ञान प्राप्त कर सकता है; क्योंकि कभी न कभी वह सारे ब्रह्माण्ड की परिक्रमा कर चुका है। और मनस्तत्व के व्यापक होने से उस के द्वारा सर्वत्र विचर सकता है।

इस प्रकार मन एक महती शक्ति है। विगत जन्मों के संस्कार इस पर अंकित होते हैं। इस लिये इस में कोई आश्चर्य नहीं कि, कभी कभी रात्रि में सोते हुए साधारण मनुष्य को भी कई ऐसे सम्बद्ध स्वप्न दिखाई दे जाते हैं, जिन का सम्बन्ध इस जन्म का घटनाओं से नहीं होता। वेद भी इस बात को स्वीकार करता है जैसा कि, अथर्व० १९।५६।२ में कहा है कि—"बन्धस्त्वाग्रे विश्वचया अपश्यत् पुरा रात्र्या जनितोरेके अन्हि" अर्थात् बन्धन के कारणभूत तथा विश्व का सञ्चय करने वाले मन ने हे स्वप्न! तुझ को (रात्र्याः पुरा) रात्रि से पहले किसी दिन अथवा (जनितोः पुरा) इस जन्म से पहिले किसी दिन देखा था, (घटनारूप में अनुभव किया था)।

इस प्रकार वेद भी विगत जन्मों के संस्कारों का स्वप्न में उद्बुद्ध होना स्वीकार करता है। योगी पुरुष तो विगत जन्मों के संस्कारों को मन को एकाग्र करके जब चाहे और जितना चाहे, उद्बुद्ध कर सकता है। यह उस के अपने अधीन है। परन्तु सामान्य मनुष्य के भूत के संस्कारों का उद्बोधन यदि

कभी होता भी है, तो वह प्रायः रात्रि में स्वप्नावस्था में ही होता है और वह भी किसी विरले मनुष्य को ही होता है। विगत जन्मों के कोई संस्कार किसी किसी को स्वप्न में क्यों दृष्टि-गोचर होते हैं ? सब को क्यों नहीं होते ? उन सस्कारों के उद्बोधन में क्या क्या नियम काम करते हैं। इत्यादि स्वप्नसम्बन्धी अनेकों बातें विचारणीय हैं।

इसी प्रकार भविष्य में होने वाली घटनाओं के भी स्वप्न दिखाई दे जाते हैं। ये क्यों आते हैं ? इन में क्या सिद्धान्त काम कर रहा ,है इत्यादि बातें भी विचारणीय हैं। भविष्य-सम्बन्धी स्वप्नों के अस्तित्व से हम इस निर्णय पर तो अवश्य पहुँच सकते हैं कि, भविष्य में होने वाली घटनाओं का उन के घटित हो जाने से पहिले ही स्वप्न में ज्ञान हो जाना—इस बात को सिद्ध करता है कि, ज्ञानप्राप्ति में यह आवश्यक नहीं कि. इंद्रियादि साधन अवश्य ही हों। क्यों कि स्वप्न में जो हमें भविष्य सम्बन्धी ज्ञान हो जाता है, वहां तो स्पष्ट ही है कि. किसी संस्कार का उस में हाथ नहीं और नाही इन्द्रियों का उस में हाथ है। वह तो सीधा मानसिक ज्ञान है। इस से यह परिणाम निकाला जा सकता है कि, इन्द्रियादि साधनों के विना भी हम मानसिक शक्ति के द्वारा ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इस के साथ हमें इस बात का भी ख्याल रखना चाहिए कि, इन्द्रियादि साधनों द्वारा प्राप्त किया गया ज्ञान अवश्य ही ठीक हो—यह नहीं हो सकता। इस में त्रुटि की बहुत अधिक सम्भावना होती है। परन्तु यदि इन्द्रियादि साधनों का अवलम्वन न कर के किसी वस्तु के सम्बन्ध में केवल मन के द्वारा ज्ञान प्राप्त हो सके, तो वह बहुत अंश में सत्य होगा। इस लिये स्वप्न में भी

जो हमें ज्ञान होता है, उस में जहां असत् की पराकाष्ठा है, वहां सत् की भी पराकाष्ठा हो सकती है। इस लिए जैसे मानसिक शक्ति का ठीक ठीक चित्रण करना कठिन है, उसी प्रकार मन की क्रियारूप स्वप्न का चित्रण करना भी दुःसाध्य है। इस प्रकार स्वप्न के सम्बन्ध में अभी अनेकों समस्याएं ऐसी हैं, जो कि विचारणीय हैं।

५ काल की दृष्टि से स्वप्न के तीन विभाग—

आधुनिक विद्वान् काल की दृष्टि से स्वप्न के दो विभाग करते हैं, एक दिवा-स्वप्न और दूसरा रात्रि-स्वप्न। परन्तु वैदिक साहित्य में काल की दृष्टि से स्वप्न के तीन विभाग किये गये हैं। एक दिवा स्वप्न दूसरा रात्रि स्वप्न और तीसरा मृत्यु काल का स्वप्न। वेदों व उपनिषदों में हम यह पाते हैं कि सामान्य स्वप्न शब्द के द्वारा ही मृत्यु स्वप्न का भी वर्णन किया गया है। उनकी दृष्टि में जिस प्रकार साधारण मनुष्य के लिये रात्रि निद्रा का समय है, उसी प्रकार मृत्यु भी एक प्रकार की निद्रा ही है। उदाहरण के तौर पर अथर्ववेद के १६ वें काण्ड का ५६ वां सूक्त दिखाया जा सकता है; जहां कि स्वप्न को यमलोक से आया हुआ माना गया है। इसी प्रकार बृहदारण्यकोपनिषद् ४/३ का प्रकरण भी मृत्यु-स्वप्न का वर्णन कर रहा है। आगे रहा दिवास्वप्न और रात्रि-स्वप्न। इनके सम्बन्ध में अथर्व १६/७/१० में दुष्ट स्वप्न का वर्णन करते हुए लिखा है कि "यज्जाग्रद् यत्सुप्तो यद्दिवा यन्नक्तम्" अर्थात् जो दुष्ट स्वप्न जागते हुए जो सोते हुए जो दिन में और जो रात्रि में आते हैं। इस मन्त्र में रात्रि व दिन नाम से काल की दृष्टि से स्वप्न के दो विभाग किये हैं और सुप्त तथा जाग्रत् इन दो अवस्थाओं की दृष्टि से भी स्वप्न के दो विभाग दिखा दिये हैं।

इससे आगे ६ वें मन्त्र (यददो अदो अभ्यगच्छन्) में तो समय का कोई प्रतिबन्ध रक्खा ही नहीं। दिन रात में कभी भी स्वप्न आ सकता है। इसी दृष्टि से ११ वें मन्त्र में यह कह दिया गया कि " यदहरहरभिगच्छामि तस्मादेनमवदये " अर्थात रात्रि व दिन के जिस २ क्षण में मैं इस दुष्ट स्वप्न को पाऊं, उससे इस दुष्ट स्वप्न को निकाल बाहिर करूं। यहां पर अहन् शब्द काल की छोटी से छोटी इकाई को बताता है। इस प्रकार वैदिक साहित्य में काल की दृष्टि से स्वप्न के तीन विभाग हुए हैं।

६ भद्र और अभद्र की दृष्टि से स्वप्न के दो विभाग—

वेदों में अच्छे व बुरे दोनों प्रकार के स्वप्नों का स्पष्ट रूप से निर्देश मिलता है। अथर्ववेद का सम्पूर्ण १६ वां काण्ड ही दुष्ट स्वप्नों के निराकरण के लिये आया है। और अच्छे व बुरे दोनों प्रकार के स्वप्नों का भी वहां निर्देश कर दिया है। उदाहरण के तौर पर अथर्व १६ का० ५ म सूक्त के प्रत्येक मन्त्र के अन्त में यह आता है कि—

तंत्वा स्वप्न तथा संविद्म स नः स्वप्न दुष्वप्न्यात् पाहि"

हे स्वप्न! हम तेरे उस (भद्र) रूप को भी भली भांति जानते हैं वह तेरा (भद्र) रूप हमारी बुरे स्वप्नों से रक्षा करे।

इस मन्त्र में स्वप्न से ही यह प्रार्थना की गई है कि तू हमारी बुरे स्वप्न से रक्षा कर। इस से यह ध्वनि निकलती है कि स्वप्न के दो रूप हैं, एक रूप बुरा है और दूसरा अच्छा है। यदि उपर्युक्त मन्त्र भाग में स्वप्न के भद्र रूप का वर्णन न मानें तो दुष्वप्न से रक्षा करने की उस से प्रार्थना कैसे की जा सकती है?

अथर्व १६।५७।३ में तो स्वप्न के दोनों रूपों का स्पष्ट संकेत है। वहां आता है कि, "यो भद्रः स्वप्न स मम यः पापस्तद् द्विषते प्रहण्मः" अर्थात् हे स्वप्न! जो तेरा भद्र रूप है वह मेरा और जो पाप रूप है, वह हम शत्रु के लिये भेजते हैं।

हमें एक बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि अच्छे व बुरे दोनों प्रकार के स्वप्नों का कई स्थलों पर एक सामान्य नाम स्वप्न ही आता है। इस लिये ऐसे प्रकरणों में स्वप्न शब्द का कहां बुरा अर्थ लेना और कहां अच्छा अर्थ लेना यह प्रकरण-बल से व अर्थ से निर्णय किया जा सकता है।

उदाहरण के तौर पर निम्न मन्त्र में स्वप्न का अर्थ दुष्वप्न से ग्रहण करना चाहिए। मन्त्र इस प्रकार है—

इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति।
यन्ति प्रमादमतन्द्राः। ऋ०८।२।१८

अर्थात् देवता सवन करने वाले (परिश्रम करना, निचोड़ना), को तो चाहते हैं। परन्तु स्वप्न के लिये उनकी कोई चाहना नहीं है। और वे तन्द्रा (आलस्य) का परित्याग कर अत्यन्त आनन्दित होते हैं।

इस प्रकार अर्थ व प्रकरणादि से स्वप्न शब्द का कहां अच्छा अर्थ लेना और कहां बुरा अर्थ लेना यह निर्णय किया जा सकता है।

भद्र व अच्छे स्वप्न के सम्बन्ध में अथर्व १६।५६।२ में एक मन्त्र में कहा गया है कि—

"बृहद्गावाऽसुरेभ्यो ऽधि देवानुपावर्तत महिमानमिच्छन्"

अर्थात् महान् गति वाला वह स्वप्न अपनी महिमा को चाहता हुआ असुरों को छोड़ कर देवों को प्राप्त हुआ।

जिन स्वप्नों के मूल में आसुरी भाव होते हैं वे अभद्र स्वप्न होते हैं और जिनके मूल में देव अर्थात् दिव्य भाव होते हैं, वे भद्र स्वप्न कहलाते हैं। भद्र स्वप्नों के लिये मन्त्र में "बृहद्गावा" और महिमानमिच्छन्" ये दो विशेषण दिये हैं। "बृहद्गावा" महान् गति वाला होना, अच्छे स्वप्न में ही सम्भव है। श्रेष्ठ संकल्परूपी अग्नि जिन मनुष्यों में प्रज्वलित है, उनके कार्य महान होते हैं वे किसी भी प्रकार की बाधा की परवाह न करते हुए आगे बढ़ते चले जाते हैं। आसुरी भावों में श्रेष्ठ अग्नि का प्रज्वलित होना और निरन्तर महान् गति का होना असम्भव है। दूसरे आसुरी वृत्ति वाले मनुष्यों की महिमा का चारों ओर फैलना बिल्कुल असम्भव है।

और अथर्व १६।५६।६ में तो स्वप्न को यश देने वाला बतलाया है। वहां आता है कि "यशस्विनो नो यशसेह पाहि" अर्थात् हम यशस्वी हैं। हे स्वप्न ! तू हमारी यश से रक्षा कर। यश द्वारा रक्षा की कामना भद्रस्वप्न के द्वारा ही हो सकती है।

इस प्रकार वैदिक साहित्य में भद्र और अभद्र दोनों प्रकार के स्वप्नों का वर्णन आता है।

७. इन्द्रियों का बाह्यजगत् से सम्बन्ध विच्छेदः—

मानवीय जीवन की स्वप्नावस्थाओं में इन्द्रियों का बाह्य-जगत् से सम्बन्ध-विच्छेद दो कारणों से होता है। एक तो निद्रा व आलस्य के कारण इन्द्रियों का बाह्यजगत् से सम्बन्ध नहीं रहता और केवल मन ही अपनी लीलायें करता रहता है। यह

अवस्था तामसिक है। निद्रा व आलस्य में तमोगुण का प्रभुत्व होता है। इस लिये विवेक व बुद्धि आदि इस में बिल्कुल ही कार्य नहीं करते। इस अवस्था में जो भी स्वप्न आते हैं वे बहुत उत्कृष्ट कोटि के तथा सम्बद्ध नहीं हो सकते। काम (sex) सम्बन्धी अर्थात् जितने स्वप्न वासनाओं से सम्बन्ध रखने वाले हैं, वे सब तमोगुण व रजोगुण में ही ज्यादः आया करते हैं। दूसरी अवस्था में निद्रा व आलस्य तो कारण नहीं होते, परन्तु विचार तल्लीनता आदि इन्द्रियों के बाह्यजगत से सम्बन्ध तोड़ने में कारण बनते हैं। उन दिवास्वप्नों में रज या सत्व ही प्रमुख होते हैं। यदि रजोगुण की प्रमुखता है तो प्रायः बुरे ही स्वप्न मनुष्य लिया करता है। बुरी २ स्कीमें सोचना, षड़यन्त्र रचना इत्यादि बातें रजोगुण की प्रधानता से होती हैं। परन्तु सत्व-प्रधान मनुष्य अपनी स्वप्नावस्था को विद्या के क्षेत्र में नये २ अन्वेषण करने व दिव्य शक्ति की प्राप्ति में उपयोगी बनाता है। इन सत्वप्रधान स्वप्नों के द्वारा ब्रह्मवित होना तक सम्भव है। जिसका कि माण्डूक्योपनिषत में विशद विवेचन किया है।

८. स्वप्न के क्षेत्रः—

मन की अन्तर्लीला अर्थात् मनो व्यापार रूप में स्वप्नशब्द का वैदिक साहित्य में जो प्रयोग हुआ है, वह भी भिन्न २ क्षेत्रों के आधार पर भिन्न २ अवस्थाओं में होने वाले मनोव्यापारों के लिये होता रहा है। निम्नतालिका से इसके क्षेत्रों तथा स्व-रूपों को अच्छी तरह से समझा जा सकता है।
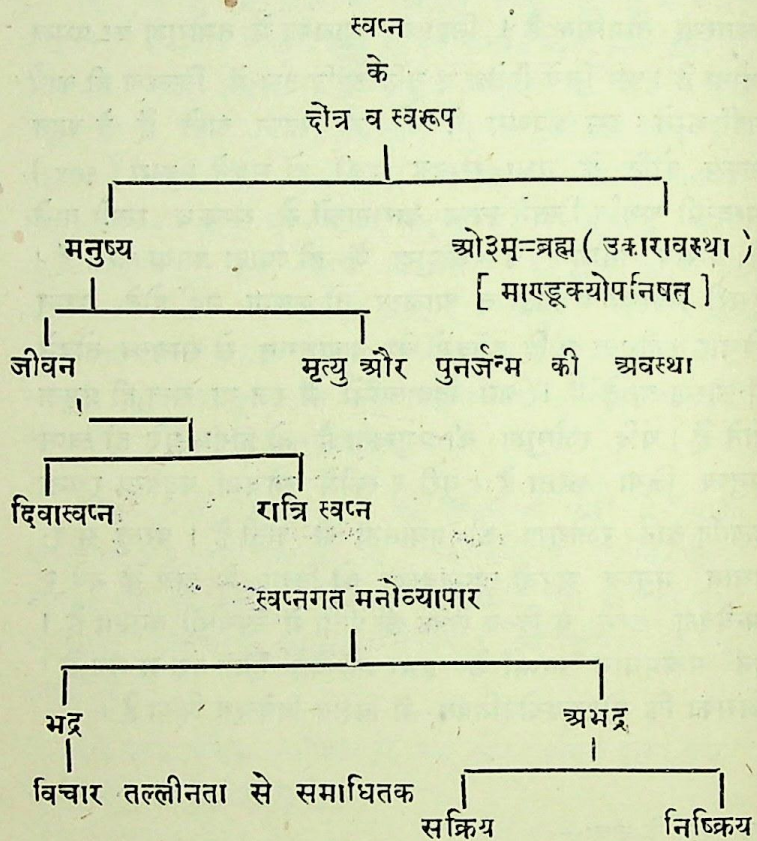
स्वप्न का क्षेत्र मानव पुरुष ही नहीं है अपितु ब्रह्म भी स्वप्न का क्षेत्र है। ब्रह्म की स्वप्नावस्था कौनसी है? यह माण्डूक्योपनिषत् में चतुष्पाद् ओंकार की व्याख्या करते हुए ओ३म् में उकार को स्वप्नावस्था बताया है। ओ३म (ब्रह्म) में उकार रूपी स्वप्नावस्था का स्वरूप क्या है? यह हम माण्डू-

क्योपनिषत् के स्वप्न प्रकरण में स्पष्ट करके मानव-पुरुष के स्वप्न के क्षेत्रों को हम मुख्यतया दो में विभक्त कर सकते हैं। एक क्षेत्र यह जीवन है और दूसरा इस जन्म तथा भावि जन्म के बीच का सन्धिस्थान भी स्वप्न का क्षेत्र है। बृहदारण्यकोपनिषत् ४।६ (श. प. ब्रा. १४।७।१।६) में इसी सन्धिस्थान को "स्वप्न स्थान" करके कहा गया है। मानवीय स्वप्न का दूसरा क्षेत्र मनुष्य का जीवन है। परन्तु मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन ही स्वप्नावस्था नहीं होती। इसको भी वैदिक शास्त्रों में जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्तिइन तीन विभागों में विभक्त किया है। और जो स्वप्नावस्था है उसे दिवास्वप्न और रात्रिस्वप्न इन दो में विभक्त किया गया है। दिवास्वप्न का ही दूसरा नाम जाग्रत-स्वप्न है, जो कि मनुष्य जागते हुए लिया करता है। अगली तालिका स्वप्नगत मनो व्यापार की है। अर्थात् स्वप्न में जो मनोव्यापार होता है वह कितने विभागों में रक्खा जा सकता है, यह दिखाया गया है। स्वप्नगत मनोव्यापार के दो विभाग किये गये हैं एक 'भद्र' और दूसरा 'अभद्र'। भद्र मनोव्यापार विचार तल्लीनता से लेकर सम्प्रज्ञात समाधि तक जितनी भी मध्य की अवस्थाएं हैं, जिनमें कि मनोव्यापार होता है, स्वप्नावस्थायें कहला सकती हैं। दूसरा अभद्र मनोव्यापार है इसके भी दो विभाग किये जा सकते हैं। एक तो आलसियों की तरह पड़े रहना और शेखचिल्ली की तरह मन के लड्डू खाना। इसे निष्क्रिय स्वप्न कह सकते हैं। दूसरा अभद्र मनोव्यापार सक्रिय होता है जिस में मनुष्य नाना भांति के षड़यन्त्रों की रचना करता है. स्कीमें सोचता है। इस प्रकार वैदिक साहित्य में स्वप्न शब्द

अनेकों क्षेत्रों के लिये प्रयुक्त हुआ है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह बात अवश्य याद रखनी चाहिये कि स्वप्न की सब अवस्थाओं में एक बात सामान्य है, जो कि सब अवस्थाओं पर लागू होती है कि इन सब अवस्थाओं में बाह्यजगत् से इन्द्रियों का सम्बन्ध नहीं रहता और केवल मनोव्यापार ही होता है। अथवा मनोव्यापार प्रमुख रूप से होता है। इस लिये दूसरे शब्दों में यदि हम स्वप्न के सम्बन्ध में कहना चाहें तो यह कह सकते हैं कि इन्द्रियों के अनुपयोग की अवस्था में मनोव्यापारमात्र स्वप्न है। इसी लिये वेदादि शास्त्रों का स्वप्न का विचार आधुनिक स्वप्न के विचार से भिन्न है। वैदिक साहित्य में स्वप्न शब्द का प्रयोग बहुत विस्तृत व भिन्न २ क्षेत्रों में हुआ है। शर्त केवल एक ही है कि स्वप्न में इन्द्रियों का बाह्य जगत् से सम्पर्क नहीं होना चाहिए। ऐसी अवस्था में मन का जो भी व्यापार होगा, चाहे वह सम्बद्ध हो या असम्बद्ध सब स्वप्न है।

स्वप्न के प्रकारः—

(उपनिषद् भाग)
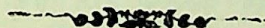
द्वितीय अध्याय

मृत्यु व पुनर्जन्म की स्वप्नावस्थाः—

स्वप्न मन की एक क्रिया है। इसलिये मन के साथ तो इसका विशेष सम्बन्ध है, परन्तु शरीर के साथ इसका विशेष सम्बन्ध नहीं है, ऐसा हम निश्चय से कह सकते हैं। इस कथन का यह तात्पर्य नहीं कि स्वप्न की उत्पत्ति में शरीर का कोई स्थान नहीं। शरीर का भी स्थान है और कई स्वप्नों में तो प्रमुख रूप से स्थूल शरीर ही कारण होता है। परन्तु कहने का भाव यह है कि जिस समय संस्कार-चित्र मनरूपी पर्दे पर अंकित हो जाते हैं, उस समय शरीर रहे या न रहे मन की स्वप्न रूपी क्रिया के लिये कोई विशेष बाधा उपस्थित नहीं होती। इस सम्बन्ध में वैदिक शास्त्र जो कि त्रिकाल का वर्णन करने वाले तथा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का ज्ञान देने वाले हैं, उनके लिए मनुष्य का केवल यह शरीर ही प्रत्यक्ष नहीं अपितु इस शरीर के बाद आत्मा कहां २ जाता है ? और क्या २ करता है ? इत्यादि बातों का वे हमें ज्ञान देते हैं। उन से हमें यह पता चलता है कि मनुष्य मृत्यु से लेकर पुनर्जन्म होने तक, सुषुप्ति काल को छोड़कर-स्वप्नावस्था में रहता है। शरीर न रहा तो कोई बात नहीं मन तो आत्मा के साथ है। इस लिये मृत्यु समय में भी मन की क्रिया रूप स्वप्न के लिये कोई बाधा नहीं है। इसी बात को बृहदारण्यकोपनिषत् के ४ र्थ अध्याय में विस्तार से दिखाया गया है। और फिर जब मनुष्य मृत्यु के अनन्तर इस लोक में जन्म लेता है तो बहुत काल तक वह स्वप्नावस्था में ही रहता

है। यह बात नवजात शिशु को देखने से स्पष्ट प्रतीत होती है। शिशु सोते हुए स्वप्न लिया करता है। उसका सोते हुए समय २ पर हंसना-रोना आदि इस बात के सूचक हैं कि वह स्वप्न ले रहा है। वैदिक सिद्धान्त के आधार पर हम इसका निर्णय इस प्रकार कर सकते हैं कि यह मन जो कि अमर है, वह पिछले जन्म के संस्कारों के वशीभूत स्वप्न लिया करता है। क्योंकि इस जन्म के तो अभी कोई ऐसे संस्कार उस पर पड़े होते नहीं जो कि स्वप्न की उत्पत्ति में कारण हों। सोते हुए शिशु के हंसने तथा रोने आदि में कई विद्वान् उपर्युक्त बात को न मान कर उसकी शारीरिक अवस्थाओं को कारण मानते हैं। उनका कहना यह है कि शरीर में कहीं दुःख व दर्द हो तो वह रो पड़ता है। और स्वास्थ्य की उत्कृष्टता से यदि शरीर में अच्छे परिवर्तन व अनुभूति हो तो वह हंस पड़ता है। वे पिछले जन्म व उसके संस्कारों को स्वप्नोत्पत्ति में कारण नहीं मानते। यह एक विवाद का विषय है, विस्तार से तो हम इस सम्बन्ध में तभी विचार करेंगे जब कि दूसरी पुस्तक में स्वप्न के आधुनिक और वैदिक विचारों पर तुलनात्मक विवेचन किया जायगा। वैदिक साहित्य तो पिछले जन्म और उसके संस्कारों को नवजात शिशु की स्वप्नोत्पत्ति में कारण मानता है। उदाहरण के तौर पर अथर्ववेद के १६ वें काण्ड का ५६ वां सूक्त देखा जा सकता है। जिस के कि प्रथम मन्त्र में स्वप्न के लिये कहा गया है कि "यमस्य लोकादध्या बभूविथ" हे स्वप्न! तू यमलोक से आत्मा का अधिष्ठाता बनकर आया है। इस प्रकार वेद तो शिशु की स्वप्नोत्पत्ति में पिछले जन्म के संस्कारों को कारण मानता है।

यदि हम इस सम्बन्ध में गम्भीरता से विचार करें तो हम यह देखते हैं कि कई ऐसे स्वप्न शिशु को आते हैं, जिन में शरीर की परिस्थितियों को कारण मानना असंगत सा प्रतीत होता है। जैसे कि भय का स्वप्न, सोते २ भय से चीख पड़ना तथा स्वप्न लेते हुए अचानक खिलखिला कर हंस पड़ना, इत्यादि कई ऐसे स्वप्न दिखाये जा सकते हैं जिनमें कि केवल शारीरिक परिवर्तन ही कारण नहीं माना जा सकता। शारीरिक परिवर्तन में मुस्कराहट आदि तो किसी अंश में समझ में आ सकता है, परन्तु खिलखिला कर हंस पड़ना, या अचानक चीख पड़ना किसी तरह समझ में नहीं आता। और फिर कभी २ यह भी देखा जाता है कि शिशु सोते २ एकदम चीखा और फिर साथ ही तुरन्त खिलखिला कर हंस पड़ा। इस में मन की क्रियाओं के वेग की दृष्टि से तो यह ठीक है कि मन की क्रियाएं इतनी विविध रूपों वाली या वेग वाली होती हैं कि इन में स्वप्न की दृष्टि से पौर्वापर्य सम्बन्ध हो सकता है। परन्तु क्या शारीरिक परिवर्तन इतनी शीघ्र गति से हो सकते हैं कि दोनों अत्यन्त विरधी क्रियाएं रोना व हसना पौर्वापर्य सम्बन्ध से आजायें समझ में नहीं आता। इस में वैदिक शास्त्र तो विगत जन्म के संस्कारों को ही कारण मानते हैं। इस सम्बन्ध में अब हम बृहदारण्यकोपनिषत् का ४ र्थ अध्याय वाला मृत्यु-स्वप्न सम्बन्धी प्रकरण दिखाते हैं।

बृहदारण्यकोपनिषत् ४।३ में याज्ञवल्क्य तथा जनक का स्वप्न सम्बन्धी संवाद आता है। जनक ने याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया

था कि हे याज्ञवल्क्य ! यह पुरुष किस ज्योति वाला है (याज्ञवल्क्य ! किंज्योतिरेवायं पुरुषः)। इस के उत्तर में याज्ञवल्क्य ने सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि तथा वाणी आदि ज्योतियां बतायीं। जनक ने जब यह प्रश्न किया कि ये सब ज्योतियां जब शान्त हो जायें तब मनुष्य के लिये क्या ज्योति होती है ? वह जनक का प्रश्न इस प्रकार है—

"अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ शान्तायां वाचि किंज्योतिरेवायं पुरुष इति"।

अर्थात् आदित्य और चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर अग्नि तथा वाणी के शान्त हो जाने पर इस पुरुष के लिये क्या ज्योति होती है ? इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा कि—"आत्मैवास्य ज्योतिर्भवत्यात्मनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति।"

उस अवस्था में आत्मा ही उस पुरुष की ज्योति होती है। आत्म ज्योति से ही वह विद्यमान होता है, कर्म करता है इधर उधर जाता है, और लौट कर आता है। भाव यह है कि जब बाह्य ज्योतियां तथा आन्तरिक वाणी आदि ज्योतियां भी सब शान्त हो जाती हैं, तब यह आत्मा ज्योति बनती है।

परन्तु विचारणीय यह है कि वह अवस्था कौनसी है ? जिस में कि अन्य सब ज्योतियां शान्त हो जाती हैं और आत्मा ज्योति बनती है। वह अवस्था स्वप्नावस्था है। स्वप्नावस्था के भी कई विभाग व क्षेत्र हम तालिका में दिखा चुके हैं। उन में मुख्यतया तीन में यह आत्मा ज्योति बनती है।

१. आध्यात्मिक अवस्था

२. रात्रि स्वप्न
३. मृत्यु से लेकर पुनर्जन्म तक

आध्यात्मिक जगत् में सूर्य चन्द्रमा, अग्नि तथा वाणी आदि ज्योतियां पथप्रदर्शन नहीं करतीं। ये सब शान्त हो जाती हैं। वहां आत्मा ही ज्योति बनती है और पथप्रदर्शन करती है। रात्रि स्वप्न में भी बाह्य तथा आन्तरिक वाणी आदि ज्योतियां सब शान्त हो जाती हैं। केवल मात्र मनोव्यापार होता है। आत्मिक ज्योति से भासमान यह मन सर्वत्र विचरता है। और मृत्यु में तो ये सब ज्योतियां शान्त हो ही जाती हैं। स्वप्न की इन तीनों अवस्थाओं में मनुष्य कर्म करता है, इस लिये उपनिषत् में "कर्म कुरुते" ऐसा कहा है। इस से यह स्पष्ट है कि मृत्यु के समय में भी मन कार्य करता है। जिसे कि हम स्वप्न कह सकते हैं।

उपनिषत् में मृत्यु से लेकर अगले जन्म होने तक की इस बीच की अवस्था को "सन्धि स्थान" कहा है। और इस सन्धि-स्थान को ही उपनिषत् में 'स्वप्नस्थान' करके कहा गया है। रात्रि स्वप्न में भी यह सन्धिस्थान जाग्रत् और सुषुप्ति के मध्य का स्थान है। उपनिषत् में इन दोनों विभिन्न क्षेत्रों के सन्धिस्थानों का वर्णन एक ही शब्दों में किया है। परन्तु बृहदारण्यकोपनिषत् के इस सम्पूर्ण स्वप्न प्रकरण को देखने से हमें यह प्रतीत होता है कि उपनिषत्कार ने किसी स्थल पर मृत्यु के अनन्तर उत्पन्न होने वाले स्वप्न पर ज्यादः बल दिया है, तो किसी स्थल पर रात्रि-स्वप्न की ओर निर्देश मिलता है। दोनों प्रकार के स्वप्नों में अव-स्था सदृश सी रहती है। सम्भवतः मात्रा का भेद हो। इस

लिये दोनों अवस्थाओं का वर्णन एक ही शब्दों में कर दिया है। जनक ने याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया था कि सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि तथा वाणी आदि ज्योतियों के शान्त हो जाने पर पुरुष के लिये ज्योति कौनसी है ? इस पर याज्ञवल्क्य ने "आत्मा" को ज्योति बताया। जब फिर जनक ने प्रश्न किया कि वह आत्मा कौनसा है ?

जनक के "कतम आत्मा" ऐसा प्रयोग करने से यह ध्वनि निकलती है कि उस समय आत्मा शब्द का प्रयोग बहुत विभिन्नता से होता था। आत्मा समय २ पर तथा क्षेत्र भेद से विभिन्न २ उपाधियों से युक्त होता हैं। इसी दृष्टि से प्राचीन शास्त्रों में प्रयोग तो 'आत्मा' शब्द का ही किया होता है, परन्तु प्रकरण से यह पता लगाना पड़ता है कि किस सौपाधिक आत्मा का वर्णन किया जा रहा है। और कहीं कहीं आत्मा के साथ उपाधि भी दिखा दी गई है। इस लिये हमें कई स्थलों पर' शारीरात्मा' विज्ञानात्मा, प्रज्ञात्मा'. इत्यादि उपाधियां भी साथ लगी हुई दिखाई देती हैं। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि आत्मा शब्द के प्रयोग में उपाधि भी साथ लगाई जाये। इसलिये "आत्मैवाभूद्विजानतः" इत्यादि मन्त्रों से जो अद्वैतवाद आदि की प्रतीति होती है; पहले यह देख लेना चाहिये कि कहीं इस स्थल पर सौपाधिक आत्मा का तो वर्णन नहीं है। अथवा विशिष्टाद्वैत का वर्णन तो नहीं है। इस पर हम "ईश्वर-वाद" निबन्ध में विस्तार से विचार करेंगे।

याज्ञवल्क्य ने जब यह कहा कि सब ज्योतियों के शान्त हो जाने पर यह आत्मा ज्योति बनती है तो जनक ने "कतम आत्मा" प्रश्न करके आत्मा की उपाधि जाननी चाही। इससे यह भी परिणाम निकाल सकते हैं कि आत्मा शब्द भी सौपाधिक है।

इस पर याज्ञवल्क्य उस अवस्था का स्पष्टी करण करता हुआ और आत्मा की उपाधि को बताता हुआ उसके स्वयं ज्योति-रूप को दिखाता है।

"योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः सः समानः सन्नुभौ लोकावनुसञ्चरति ध्यायतीव लेलायतीव सहि स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति मृत्योरूपाणि" ७ ॥

अर्थात् यह विज्ञानमय पुरुष प्राणों (इन्द्रियां) तथा हृदय के अन्दर ज्योतिरूप में रहता है। मृत्यु अवस्था में पहुँचा हुआ वह इस लोक (जन्म) और परलोक (भाविजन्म) दोनों के लिये समान होता है। दोनों में वह इस प्रकार गमन करता है कि मानों वह दोनों का ध्यान कर रहा है। अथवा उन में खूब अवगाहन कर रहा है। और ज्यों २ वह मृत्यु की पूर्ण समाप्ति की तरफ पहुंचता जाता है त्यों २ वह स्वप्न रूप होकर इस लोक व इस लोक के मृत्यु-रूपों को अतिक्रमण करता जाता है।

याज्ञवल्क्य ने जहां पहले 'आत्मा' शब्द का प्रयोग किया था, वहां जनक के स्पष्टीकरण चाहने पर विज्ञानमय पुरुष इस प्रकार आत्मा के लिये प्रयोग किया। यह विज्ञानमय पुरुष प्राण (इन्द्रियां) व हृदय के अन्दर रहता है। ये इन्द्रियां स्वयं ज्योतिरूप नहीं हैं, ज्योतिरूप तो वह विज्ञानमय आत्मा है। उसी विज्ञानमय आत्मा के कारण ये इन्द्रियां आदि ज्योतिरूप बनती हैं। यह आत्म ज्योति हृदय के अन्दर रहती है। जिस समय मनुष्य की मृत्यु होने लगती है, उस समय इन्द्रियां प्राण में प्राण मन में तथा मन आत्मा में आ विराजता है। और

जिस समय मनुष्य का बाह्यजगत् से सम्बन्ध टूट जाता है और यह प्रक्रिया (इन्द्रियां प्राण में प्राण मन में इत्यादि) प्रारम्भ होने लगती है, उस समय आत्मा इस लोक तथा परलोक दोनों लोकों को देख रहा होता है। दोनों के लिये वह एक समान होता है। यहां पर लोक शब्द जन्म का वाचक समझ लेना चाहिये। अर्थात इस जन्म तथा दूसरे जन्म के मध्य में बैठा हुआ दोनों जन्मों को अच्छी तरह देख रहा होता है। इन्द्रियां तो इस समय कार्य नहीं करतीं, क्योंकि बाह्यजगत् से सम्बन्ध कराने वाला शरीर छूट जाता है। और मन के कार्य के लिये यह आवश्यक नहीं कि स्थूल शरीर अवश्य ही हो। स्वप्न में भी मनुष्य के मन का स्थूल शरीर के साथ सम्बन्ध नहीं के बराबर होता है। मृत्यु के समय भी शरीर न रह कर आत्मा के साथ मन तो रहता ही है। इस समय आत्मा मन द्वारा जो कार्य करता है वह स्वप्न है। इसी स्वप्न के रूप को "ध्यायतीव, लेलायतीव" इत्यादि शब्दों द्वारा प्रकट किया है। "इव" शब्द इस बात को दर्शा रहा है कि ध्यान नहीं है, परन्तु ध्यान की तरह है। यह सब स्वप्न का स्वरूप है। यहां जो यह कहा गया है कि "स स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति मृत्योरूपाणि" वह स्वप्नरूप होकर इस लोक का और इस लोक के मृत्युरूपों को अतिक्रमण करता जाता है। मृत्यु के रूप शरीर में हो सकते हैं, यह शरीर का धर्म है। मनुष्य जीवन में प्रतिक्षण निर्माण व विनाश होता रहता है। पूर्ण विनाश (मृत्यु) के समय जिस २ अङ्ग से प्राण निकलते जाते हैं, वह २ अंग मृत होता जाता है। और उन २ मृत्युरूप शारीरिक अवयवों को वह छोड़ता जाता है।

इस स्वप्नावस्था को दिखाते हुए याज्ञवल्क्य ने प्रसंग से एक बात और कह दी, उसका भी हम यहां संकेत किये देते हैं। वह इस प्रकार है—

"स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसम्पद्यमानः पाप्मभिः संसृज्यते स उत्क्रामन् म्रियमाणः पाप्मनो विजहाति ॥ ८ ॥

अर्थात् यह पुरुष (जायमानः) उत्पन्न होता हुआ अर्थात् (शरीरमभिसम्पद्यमानः) शरीर को धारण करता हुआ पापों से संसर्ग करता है और शरीर से उत्क्रान्त अर्थात् मरता हुआ पापों से विमुक्त हो जाता है।

यहां यह बात ध्यान देने की है, कि यहं मोक्ष का प्रकरण नहीं है। शरीर धारण करने से पाप आ लगते हैं और शरीर छूटने पर पाप छोड़ जाते हैं, इस कथन का भाव यह प्रतीत होता है कि इस सन्धिस्थान में पाप व पुण्य का कोई फल नहीं मिलता। पाप होना या न होना एक बराबर है। इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि पाप पुण्यों के न होने से जीवात्मा को तत्वज्ञान हो गया और वह बन्धनों से छूट गया। केवल होता यह है कि पाप और पुण्य अपने फल रूपी कार्य से विरत हो जाते हैं. दूसरा जन्म मिलते ही वे फिर कार्य करना शुरू कर देते हैं।

अब अगली कण्डिका में यह बताया कि जब मनुष्य इस लोक से दूसरे लोक में अर्थात् इस जन्म से दूसरे जन्म की ओर जा रहा होता है, तो वह बीच की अवस्था जिसे कि सन्धि स्थान (स्वप्नस्थान) कहा है, उसका स्वरूप व उसके अतिक्रमण का स्वरूप क्या है?

"तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवत इदञ्च परलोकस्थानञ्च सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानं तस्मिन् सन्ध्ये स्थाने तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यतीदञ्च परलोकस्थानञ्च। अथ यथाक्रमोऽयं परलोकस्थाने भवति तमाक्रममाक्रम्योभयान् पाप्मन आनन्दांश्च पश्यति स यत्र प्रस्वपित्यस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामपादाय स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपित्यत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति ॥९॥

इस पुरुष के दो ही स्थान होते हैं: यह लोक तथा परलोक। इन दोनों लोकों के बीच का जो सन्धिस्थान है जिसे कि स्वप्नस्थान कहते हैं, इस सन्धि (स्वप्नस्थान) में आया हुआ जीवात्मा इस लोक तथा परलोक दोनों को देख लेता है। और जैसे २ यह परलोक अर्थात दूसरे जन्म की ओर चलता चला जाता है, वैसे ही वैसे दोनों जन्मों के पाप (कष्ट) व आनन्दों को भी देखता जाता है। और जब वह (प्रस्वपिति) प्रकृष्ट रूप से शयन कर जाता है अर्थात शरीर को छोड़ देता है। तब वह इस लोक की सब प्रकार की मात्राओं को छोड़ कर अर्थात् स्वयं त्याग कर और फिर स्वयं स्वप्नरूप में नई मात्राओं का निर्माण कर आत्मज्योति से शयन करता है। इस अवस्था में यह आत्मा स्वयं ज्योति बनता है।

इस प्रकरण में मृत्यु-स्वप्न की दो अवस्थाओं की ओर संकेत दिखाई देता है। एक तो सामान्य स्वप्नावस्था है; और दूसरी पूर्ण स्वप्नावस्था है। इस पूर्ण स्वप्नावस्था को "प्रस्वपिति" इस शब्द द्वारा बताया गया है। स्वप्न की प्रथम अवस्था वह है कि

जिस समय मनुष्य मरणोन्मुख होता है। इन्द्रियां बाह्यजगत तथा शरीर में अपने २ स्थानों को छोड़ कर प्राण की ओर प्रयाण करती हैं, और प्राण मन की ओर, तो यह प्रयाण की अवस्था स्वप्न की प्रथम अवस्था है। इस अवस्था में इस लोक की भी मात्राओं का कुछ २ स्पर्श रहता है और फिर जब यह आत्मा पूर्णरूप से इस शरीर को छोड़ देता है, तब स्वप्न की दूसरी अवस्था प्रारम्भ होती है। इसे "प्रस्वप्न" कह सकते हैं। तालिका में इस उपर्युक्त बात को हम इस प्रकार रख सकते हैं।

[आक्रम=पाद विक्षेप)

इह लोक (जन्म)——सन्धि स्थान——परलोक (पुनर्जन्म)

(स्वप्नस्थान)

मरणोन्मुख (स्वप्न का प्रारम्भ)——— मृत (प्रस्वप्न)

इस उपर्युक्त प्रकरण में कई बातें विशेष विचारणीय हैं। एक विवादास्पद विषय यह है कि मनुष्य जब मरता है तब इस लोक (जन्म) व परलोक (पुनर्जन्म) दोनों जन्मों को कैसे जान लेता है ? अर्थात् वह यह कैसे जान लेता है कि मैंने पिछले जन्म में अमुक २ पाप व पुण्य किये थे उनके आधार पर मुझे अगला जन्म मिल रहा है और उस में यह २ फल मिलेंगे। यदि हम इस तत्व का स्पष्टीकरण कर सकें तो भूत व भविष्य सम्बन्धी सच्चे स्वप्नों का भी स्पष्टीकरण इसी से हो जायगा।

वैदिक सिद्धान्त आत्मा को नित्य और अविनाशी मानता है। यह आत्मा बार २ इस पृथ्वी पर जन्म लेता है। इसके साथ एक मन भी है जिस के साथ आत्मा का सदा सम्बन्ध रहता है। मुक्ति होने पर ही जो कि आत्मा से पृथक् होता है. इत्यादि कई ऐसे सिद्धान्त हैं जिनको कि इस विवादास्पद विषय के स्पष्टीकरण के लिये सदा ध्यान में रखना चाहिए।

आत्मा जब इस स्थूल शरीर को छोड़ता है, तब उसके साथ मन भी रहता है। मनुष्य के मन पर इस जन्म के क्या अपितु कई पिछले जन्मों के संस्कार पड़े हुए हैं। मनुष्य की जो इच्छाएं रहीं, पापकर्म व पुण्यकर्म किये वे सब मन के अन्दर निहित होते हैं। इसी दृष्टि से अथर्व १६ काः ५६ सू० में मन को "विश्वचया" विश्व का संचय करने वाला तथा "बन्धः" उसको अपने में बांध कर रखने वाला कहा गया है। आधुनिक भाषा में मन के इस गुण को "Unconscious self" अवचेतनात्मक भाग शब्द से मूर्तरूप दिया गया है। परन्तु है यह भी अधूरा। मृत्यु के समय मन के अन्दर निहित वे सब पाप व पुण्य कर्म प्रत्यक्ष सामने आ खड़े होते हैं. स्मृतिपट पर आ पहुँचते हैं अथवा यूं कह सकते हैं कि मन के ऊपरी स्तर पर आ तैरने लगते हैं। ऐसा क्यों होता है? जीवन के समय ऐसा क्यों नहीं होता? इत्यादि बातों पर यदि सूक्ष्मता से विचार करें तो हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि इस में मन की एकाग्रता ही कारण है। जीवन में यह एकाग्रता पूर्ण रूपेण नहीं होती। इस में सब से बड़ा बाधक हमारा शरीर है। जिस समय मनुष्य यह समझता है कि मैंने मन को एकाग्र कर लिया उस

समय भी मन पूर्ण एकाग्र नहीं हुआ होता। मन की पूर्ण एकाग्रता तब समझनी चाहिए जब कि शरीर के किसी भाग पर कोई आघात भी हो जाय तो भी वह पता न चले। मृत्यु के समय मन की ऐसी एकाग्रता स्वाभाविक होती है। क्योंकि उस समय शरीरादि कुछ नहीं है। इस लिये उस समय मन अपने सम्पूर्ण विगत संस्कारों को आसानी से देख लेता है। परन्तु फिर यह प्रश्न हो सकता है कि मृत्यु के अनन्तर मनुष्य को कितना ज्ञान हो सकता है? इसको हम लालटेन के उदाहरण से अच्छी प्रकार समझ सकते हैं। जिस प्रकार लालटेन के अन्दर बत्ती जल रही है, उसकी ज्योति बाहिर आकर सब को प्रकाशित कर रही है। परन्तु चिमनी जैसी होगी वैसा ही प्रकाश अन्दर तथा बाहिर की ओर जायगा। चिमनी धुंधली हो तो प्रकाश क्षीण होगा और जिस रंग में रंगी होगी वैसे ही रंग का प्रकाश बाहिर पड़ेगा। ऐसे ही स्वयं ज्योति रूप आत्मा पर मन एक चिमनी के समान है। जिस रंग में मन रंगा हुआ है वैसा ही प्रकाश बाहिर दिखाई देगा। मन धुंधला है तो प्रकाश भी धुंधला होगा। और फिर कर्मों के प्रभाव से वह लैम्प जिस योनि की ओर जा रही होगी, उसी योनि का प्रकाश उसे होगा। इसी बात को उपनिषत्कार ने इन शब्दों में कहा है कि "अथ यथाक्रमोऽयं परलोकस्थाने भवति तमाक्रममाक्रम्योभयान् पाप्मन आनन्दांश्च पश्यति।" अर्थात क्रमानुसार यह आत्मा परजन्म की ओर चलता चला जाता है। जैसे २ वह पर-जन्म की ओर पादविक्षेप करता जाता है, वैसे २ दोनों जन्मों के पाप व आनन्दों को देखता जाता है। इसी विषय को 'योग वासिष्ठ' के

'उत्पत्ति प्रकरण' के ४० वें सर्ग में और भी विस्तार से बताया गया है। इस सम्बन्ध में यहां एक प्रश्न पैदा होता है कि मृत्यु के समय मन की पूर्ण एकाग्रता से भूतकाल से सम्बन्ध रखने वाली बातें तो हमें किसी तरह स्मरण हो सकती हैं। परन्तु भविष्य सम्बन्धी यह ज्ञान कैसे हो सकता है कि अमुक कर्म का हमें यह फल मिलना है? इस सम्बन्ध में हमारा निवेदन यह है कि वैदिक सिद्धान्त के आधार पर एक आत्मा को छोड़ कर मन बुद्धि आदि सूक्ष्मशरीर व स्थूल शरीर सब प्राकृतिक हैं। यही शरीर कर्म करता है, और इसे ही कर्मों का फल भोगना पड़ता है। स्वस्थ होना, बीमार होना चलना फिरना, खाना व्यवहार करना, सोचना, विचारना, इत्यादि सभी व्यवहार इस प्रकृति के ही हैं। आत्मा तो प्रकाश देता है। प्रकृति के अन्दर कार्य कारण भाव लगा हुआ है। स्थूल जगत में तो हम प्रायः कार्य कारण भाव साथ २ लगा हुआ देखते हैं। कोई भी कारण सामने दिखाई दिया तो झट हमें उसका परिणाम भी दिखाई दे जाता है। सूक्ष्म जगत् में भी यही नियम काम कर रहा हैं। मनुष्य कर्म करता है तो विराट जगत अर्थात् सूक्ष्म जगत् में उसका परिणाम भी साथ २ पैदा होता जाता है। जिसको स्थूल शरीर तक आने में समय लग जाता है। और कभी २ अगले जन्म में जाकर स्थूल शरीर पर प्रभाव पड़ता है। परन्तु सूक्ष्मदर्शी योगी पुरुष विराट-जगत में विद्यमान किसी भी मनुष्य के कर्म फलों को देख कर यह बता सकते हैं कि इस मनुष्य को अमुक २ फल मिलेगा। इसी प्रकार मृत्यु के समय प्रत्येक मनुष्य का मन पूर्ण एकाग्र होने से या सूक्ष्म जगत में ही

विहार करने से उस में यह शक्ति पैदा हो जाती है कि वह सूक्ष्म जगत् में विद्यमान कर्मफलों को देख लेता है। जो कि भावि जन्म में स्थूल शरीर पर प्रभाव डालेंगे। या स्थूल शरीर तक फैलेंगे। इस प्रकार मृत्यु समय मनुष्य भविष्य सम्बन्धी बातों को जान लेता है।

अब अगली कण्डिका में मृत्यु-स्वप्न के स्वरूप को दिखाया गया है। जिस प्रकार रात्रि स्वप्न में मनुष्य की इन्द्रियां काम नहीं करतीं। मन पर पड़े संस्कार व इच्छाएं रात्रि में स्वप्न रूप में उद्बुद्ध हो जाती हैं और प्रत्यक्ष की तरह दिखाई देती हैं। इसी प्रकार मृत्यु-स्वप्न में भी विगत जन्म के मन पर पड़े संस्कार व इच्छाएं उद्बुद्ध हो जाती हैं। वह कण्डिका इस प्रकार है—

"न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते। न तत्रानन्दाः मुदः प्रमुदो भवन्त्यथानन्दान् मुदः प्रमुदः सृजते न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्त्यथ वेशान्तान् पुष्करिणीः स्रवन्तीः सृजते सहि कर्त्ता। १०।

वहां न तो रथ होते हैं, ना ही अश्व और न मार्ग होते हैं। परन्तु वह रथ तथा अश्वादियों का काल्पनिक सर्जन कर लेता है और फिर वहां न आनन्द व मोद आदि हैं, परन्तु उनका भी वह सर्जन कर लेता है। वहां तालाब, झरने व नदियां आदि भी नहीं हैं, परन्तु इनका भी वह निर्माण कर लेता है. क्योंकि वह स्वयं कर्ता है।

भाव यह है कि शरीर से तो ये वस्तुएं होती नहीं केवल

मन के अन्दर ही इनका निर्माण होता है, इसलिये ये मानसिक उपभोग हैं, शारीरिक नहीं ।

उपर्युक्त सब बातें जो कि हमने मृत्यु-स्वप्न में घटायी हैं, रात्रि-स्वप्न में भी इनको घटाया जा सकता है। इन सब बातों की पुष्टि के लिये याज्ञवल्क्य ने आगे दो तीन श्लोक दिये हैं। सम्भवतः प्राचीन परम्परा से ये स्वप्न की पुष्टि में चले आ रहे हों। इन श्लोकों में भी मृत्यु स्वप्न व रात्रि स्वप्न दोनों के स्वरूप दृष्टि गोचर होते हैं। प्रथम श्लोक में मृत्यु स्वप्न के स्वरूप को संक्षिप्त रूप से दिखा कर हम रात्रि-स्वप्न में इन श्लोकों की विस्तृत व्याख्या करेंगे। प्रथम श्लोक इस प्रकार है--

स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्यासुप्तः सुप्तानभिचाकशीति ।

शुक्रमादाय पुनरैति स्थानं हिरण्मयः पुरुष एकहंस ॥

अर्थात् पुरुष मृत्युस्वप्न द्वारा शरीर सम्बन्धों को त्याग कर स्वयं असुप्त रह कर प्रसुप्त संस्कारों (रथादियों को) स्वप्न में देखता है। और फिर (शुक्र) वीर्य का आश्रय लेकर अपने स्थान (लोक) में आ उत्पन्न होता है। यह हिरण्मय अर्थात् तेजः स्वरूप है और (एक हंसः) शारीर देवताओं से पृथक् होकर मृत्यु समय अकेला गति करता है।

भाव यह है कि मृत्यु समय यह आत्मा शरीर को छोड़ देता है। शरीर द्वारा ही यह बाह्य जगत् से सम्बन्ध रखता है। परन्तु जब शरीर न रहा तो बाह्य जगत् से इसका सम्बन्ध भी नहीं रहा। बाह्य जगत् के ये सब पदार्थ उसके लिये प्रसुप्त हैं, तिरोहित हैं। फिर भी यह आत्मा स्वयं असुप्त होकर इन रथादि अर्थात

बाह्य जगत् को जो देखता है, वह केवल इसका मानसिक दर्शन है फिर जब यह स्वप्नावस्था को छोड़ने के लिये कर्म फलानुसार जन्म ग्रहण करता है तो यह तब वीर्य का आश्रय लेकर स्त्री में उत्पन्न होता है। इस प्रकार उपनिषत के उपर्युक्त प्रकरण द्वारा मृत्यु स्वप्न पर संक्षिप्त विचार किया। अब हम इन श्लोकों द्वारा रात्रि स्वप्न पर विस्तार से विचार करते हैं।

तृतीय अध्याय

रात्रि-स्वप्न

रात्रि में सोते हुए सभी मनुष्य स्वप्न देखा करते हैं। वह स्वप्नावस्था कैसे पैदा होती है? उस समय वह क्या करता है? इत्यादि बातों का वर्णन निम्न श्लोकों में इस प्रकार किया गया है।

स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्यासुप्तः सुप्तानभिचाकशीति।
शुक्रमादाय पुनरेति स्थानं हिरण्मयः पुरुष एकहंसः॥

स्वप्न द्वारा शरीर सम्बन्धों को चारों ओर से छोड़ कर स्वयं असुप्त हुआ २ यह हिरण्मय हंस सुप्त पदार्थों को देखता है। और फिर शुक्र के आश्रय से अपने विविध शरीर स्थानों में आ पहुंचता है।

यहां पर यह कहा गया है कि वह आत्मा स्वप्न में शारीरिक सम्बन्धों व स्थानों को छोड़ देता है। परन्तु उसका शारीरिक स्थानों को छोड़ना प्राणशक्ति द्वारा नहीं अपितु चितिशक्ति द्वारा होता है। चितिशक्ति शरीर में सर्वत्र फैली हुई है, ये इन्द्रियां आदि इसी चितिशक्ति के विविध रूप हैं। मनुष्य के सोने पर ये अपने २ स्थानों को छोड़ कर मन में आकर केन्द्रित हो जाती

हैं। जिस प्रकार लैम्प का प्रकाश बाहिर न जाकर चिमनी के अन्दर ही केन्द्रित हो जाये, उसी प्रकार यह चितिशक्ति मन-रूपी चिमनी के अन्दर केन्द्रित हो जाती है। परन्तु विचारणीय यह है कि क्या सम्पूर्ण चितिशक्ति पूर्णतया शरीर स्थानों को छोड़ देती है, या कुछ अंश में छोड़ती है। हमें यह मानना पड़ता है कि सम्पूर्ण चितिशक्ति (चेतना शक्ति) शरीर स्थानों को नहीं छोड़ती। क्योंकि स्वप्न लेते हुए भी शरीर में कहीं खुजली होने पर हम खुजा देते हैं। इस से यह पता चलता है कि चितिशक्ति खुजली के स्थान में उपस्थित है। उसने मस्तिष्क को सूचना दी और ऊपर से झट हाथ को आज्ञा आगयी। यह सब प्रक्रिया कब हो जाती है यह हमें पता भी नहीं चलता। सोते हुए मनुष्य की आंख पर प्रकाश फैंको झट उसे अनुभव होता है। इस लिये कि वहां आंख में चितिशक्ति स्वल्प मात्रा में उपस्थित है। अतः हम यह नहीं कह सकते कि चितिशक्ति सम्पूर्णतया शरीर स्थानों को छोड़ कर मन में आकर केन्द्रित हो जाती। इस उपर्युक्त बात को और भी विशद रूप में समझने के लिये चितिशक्ति का हमें विद्युत के उदाहरण से मेल करना चाहिये। जिस प्रकार विद्युतधारा (Electric Cu-rrent) अपने स्थान से चल कर दूरस्थ दीपक (Bulb) को प्रदीप्त कर देती है। परन्तु जैसे विद्युत धारा बन्द करने पर विद्युत दीपक में नहीं रहती और दीपक बुझ जाता है, उसी प्रकार यह चितिशक्ति भी विद्युत की तरह अपने शरीर स्थानों को छोड़ कर आश्रय में आ सकती है, और पर्णरूप से आ सकती है। परन्तु सामान्य स्वप्न में यह पूर्णरूप से

नहीं आती। पूर्णरूप से तो यह समाधि या सुषुप्ति में ही आती है। अन्तःप्रज्ञ की अवस्था में यह चितिशक्ति बहिः प्रज्ञ तो नहीं होती परन्तु शरीर स्थानों को भी पूर्णरूप से नहीं छोड़ती। प्रज्ञानघन की अवस्था में ही घनीभूत होकर शरीर स्थानों को छोड़ देती हैं। योग का यही तो रहस्य है कि इस चितिशक्ति को अधिक से अधिक केन्द्रित करना प्रज्ञानघन बनाना। स्वप्न में प्रायः मनुष्यों का चितिशक्ति का आश्रय स्थान तो एक लीक (leak) करता हुआ मीटर (Meter) है। इस लिये स्वप्न में भी कुछ न कुछ चितिशक्ति की धारा सम्पूर्ण शरीर में पहुँच रही होती है। परन्तु यह चूवन (Leakage) की मात्रा इतनी नहीं होती कि यह ऐन्द्रिक बल्वों को प्रज्वलित कर दे। और फिर भिन्न २ मनुष्यों में यह मात्रा भिन्न २ होती है। इस लिये रात्रि स्वप्न में भी स्वप्न का कितना अंश तात्कालिक शरीर अवस्था से प्रभावित हुआ होता है और कितना शुद्ध रूप से मानस होता है, यह प्रत्येक मनुष्य के अपने चितिशक्ति के चूवन पर निर्भर करता है। सूक्ष्मदर्शी पुरुष मनुष्य के रात्रि स्वप्नों को देखकर यह पता लगा सकता है कि किस स्वप्न में शारीरिक अवस्था प्रधान है और किस में मानस अवस्था प्रधान है। और इन स्वप्नों का विश्लेषण कर यह भी पता लगाया जा सकता है कि शरीर में क्या रोग है? और कौनसा अंग विकृत है, और कौनसा स्वस्थ है? कौनसी शक्ति शरीर में क्षीण हो रही है और कौनसी वृद्धि को प्राप्त हो रही है। इस लिये स्वप्नों के निर्णय करने के लिये मनुष्य को निद्रा, शरीर व मन की स्थिति तथा बाह्यपरिस्थिति आदि सब बातों पर विचार करना चाहिए। और

यह भी देखना चाहिये कि अमुक स्वप्न में किस का प्रधान्य है। और वह क्यों है ? इत्यादि बातों के अवलोकन करतेरहने से मनुष्य स्वप्नों पर नियन्त्रण रख सकता है, और दुष्टस्वप्नों से अपने को बचा सकता है, आगे कहा है कि—

असुप्तः सुप्तानभिचाकशीति

अर्थात् वह स्वयं तो असुप्त होता है और सुप्तों को देखता है। अब विचारणीय यह है कि उसके लिये सुप्त कौन है ? मनुष्य के सामने दो जगत् हैं। एक बाह्य जगत् और दूसरा आन्तरिक जगत्। साधारण मनुष्य के लिये तो स्वप्नावस्था में ये दोनों ही जगत् सुप्त होते हैं। स्वप्नावस्था में बाह्य जगत् से इस का सम्बन्ध रहता नहीं और आन्तरिक जगत् इसके लिये होता नहीं या उस के देखने की इस में शक्ति व योग्यता नहीं होती। फिर भी साधारण मनुष्यों का मन सुप्तों को देखता है। अब प्रश्न यह है कि किन सुप्तों को देखता है ? और कहां तक देखता है ? इस का उत्तर यही है कि यह प्रत्येक व्यक्ति की अपनी शक्ति व योग्यता पर निर्भर है। साधारण मनुष्य तो स्वप्न में भी प्रायः बाह्य जगत् के अपने आस पास की घटनाओं व पदार्थों के संस्कारों को ही देखता है। क्योंकि जागृत अवस्था में प्रत्येक मनुष्य की अशनया (Appetite,) भी अपने समाज की सतह तथा चारों ओर की परिस्थिति के अनुकूल ही रहती है। साधारण मनुष्य के मन की प्रवृत्ति भी सदा उन्हीं आसपास की घटनाओं में उलझी रहने की होती है। इस लिये वह स्वप्न में भी अपने आस पास की घटनाओं के संस्कारों को ही तोड़मरोड़ कर देखा करता

है । बाह्य जगत् जो कि स्वप्न में सुप्त होता है, उसी को मनुष्य का असुप्त मन देखा करता है । परन्तु दूसरी तरफ जिस मनुष्य के लिये जागृतावस्था में भी बाह्यजगत् सुप्त होता है। जागृतावस्था में भी जो बाह्य संसार से अलिप्त रहता है। वह किन सुप्तों को देखता है, यह विचारणीय है । जो मनुष्य जागृतावस्था में भी बाह्यजगत् से अलिप्त रह कर अपने अन्दर की ओर ही मन को किये रहता है, वह स्वप्न में भी आन्तर जगत् की छानबीन करता रहता है । इस लिये ऐसे मनुष्यों के लिये बाह्यजगत के सुप्त होने या न होने का कोई प्रश्न ही नहीं। ऐसे मनुष्यों का आन्तरिक जगत् जो कि सुप्त पड़ा हुआ है, उसी को वे स्वप्न में देखा करते हैं। इस लिये ऐसे मनुष्यों के अत्यन्त प्राचीन तथा जन्म जन्मान्तरों के प्रसुप्त संस्कार भी स्वप्न में उद्बुद्ध हो जाते हैं ।

आगे कहा है कि—

शुक्रमादाय पुनरेति स्थानं हिरण्मयः पुरुष एक हंसः ।

अर्थात् यह आत्मा शुक्र अर्थात् ऐन्द्रिक शक्ति को लेकर फिर अपने शरीर स्थानों में आ पहुँचता है। यह ज्योतिरूप अकेला आत्मा ही सर्वत्र शरीर में पहुँचा हुआ है।

अब एक और प्रश्न उपस्थित होता है कि जब आत्मा स्वप्न में अपनी चितिशक्ति को शरीरगत स्थानों से समेट लेता है, तब कौनसी शक्ति अवशिष्ट रहती है जिसके कि कारण यह शरीर थमा रहता है ? इसका उत्तर इस अगले श्लोक में दिया है, वह इस प्रकार है—

प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा ।
स ईयते अमृतो यत्र कामं हिरण्मयः पुरुष एक हंसः ॥

अर्थात् इस अवर कुलाय (स्थूल शरीर) की प्राण द्वारा रक्षा करता हुआ इस चितिशक्ति द्वारा बाहिर निकल कर यह अमृत रूपी जीवात्मा जहां २ कामना होती है वहां २ चला जाता है।

इस आत्मा के स्थूलशरीर व सूक्ष्मशरीर आदि कई कुलाय हैं, घर हैं। इन में स्थूलशरीर अवरकुलाय है। यह सब से निकृष्टकोटि अर्थात् निचली श्रेणी का कुलाय है। स्वप्न समय में यह आत्मा अपने चैतन्य रूपी किरण को किसी अंश तक इस स्थूलशरीर से खेंच लेता है। और उस समय मन आदि सूक्ष्म शरीर में निवास करता है। और इस स्थूल शरीर की प्राण द्वारा रक्षा करता। अर्थात् स्वप्न समय में शरीर व इन्द्रियां आदि गोलकों में चिति शक्ति नहीं रहती, यदि रहती भी है तो बहुत कम। परन्तु उस समय भी जीवनीय अंगों (Vital organs) की प्राणनक्रियाएं होती रहती हैं। स्वप्न समय में शरीर व इन्द्रियों में विद्यमान चितिशक्ति स्थूलशरीर से निकल कर "परे देवे मनस्येकोभवति" इस मन में एकीभाव को प्राप्त हो जाती है। और यह मन इन्द्रियों को लेकर स्वप्न समय में इधर उधर विचरता है और सब इन्द्रियों से सम्बद्ध स्वप्न देखता रहता है। अर्थात् मनुष्य को स्वप्न में दृष्टि शक्ति से सम्बद्ध कई प्रकार के दृश्य दिखाई देते हैं। घ्राणशक्ति से सम्बद्ध विविध प्रकार की सुगन्धि व दुर्गन्धि वह सूंघता

है। श्रवण शक्ति से सम्बद्ध नानाविध शब्द व स्वर आदि वह सुनता है। इत्यादि अन्य सभी अंगों के कार्य वह उस समय करता है। माण्डूक्योपनिषत् के आधार पर मनुष्य स्वप्न में वे सब भोग भोगता है जो कि जागृतावस्था में वह भोगा करता है। भेद केवल इतना ही है कि जागृत के भोग स्थूल हैं और स्वप्न के भोग सब सूक्ष्म हैं। इसी लिये माण्डूक्योपनिषत में स्वप्नगत आत्मा को "प्रविविक्तभुक (प्रविविच्य स्थूलरूपं पृथक्कृत्य भुनक्ति) अर्थात् पदार्थ के स्थूलरूप को त्याग करके उसका भोग करने वाला बताया गया है। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या यह स्वप्न का भोग जागृतावस्था के स्थूलभोग के अधीन है? क्या स्वप्न में वे ही भोग भोगे जाते हैं जो हम जागृत में भोग चुके हैं? हमारी सम्मति में यह आवश्यक नहीं है। माण्डूक्योपनिषत् में जागृत व स्वप्नावस्थाओं का वर्णन करते हुए यह कहीं नहीं कहा कि स्वप्नावस्था भोग भोगने में जागृत के अधीन है। और प्रश्नोपनिषत् में तो यह स्पष्ट ही कह दिया है कि यह मन, दृष्ट, श्रुत तथा अनुभूत घटनाओं आदि को तो स्वप्न में देखता ही है, परन्तु अदृष्ट, अश्रुत तथा अननुभूत बातों तथा घटनाओं को भी स्वप्न में देख लेता है। इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि जागृत समय के वासनारूप में अन्दर पड़े हुए भोगों को यह आत्मा स्वप्न में भोगता भी है और नहीं भी भोगता। इस में सर्वतन्त्र स्वतन्त्र भोग भी हो सकते हैं।

जागृतावस्था का स्वप्नावस्था पर जो प्रभाव है, वह तो स्वप्नों के कई अंश में जागृत की घटनाओं के अनुकूल होने से स्पष्ट प्रतीत हो जाता है, परन्तु स्वप्नावस्था का जागृत पर जो

प्रभाव होता है, वह हमें पता नहीं चलता। पर हमें यह याद रखना चाहिए कि स्वप्नावस्था का जागृतावस्था पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। स्वप्नावस्था में भोग भोगने में जो आनन्द आता है, वह शनैः २ मन व सूक्ष्म शरीर पर प्रभाव डालता है; जिसका परिणाम यह होता है कि कालान्तर में जाकर मनुष्य में एक परिवर्तन आ जाता है, और वह यह कि जागृत के संकल्प बल, विवेक बुद्धि, व समाजभय आदि को ढीला कर देता है, जिससे कि आदमी पाप आदि करने में जहां पहले संकोच करता था—अब निर्लज्ज हो जाता है। दूसरी तरफ अच्छे स्वप्नों के प्रभाव से मनुष्य अच्छा बन जाता है। इस लिये स्वप्न मनुष्य पर इतना शक्तिशाली प्रभाव डाल देता है कि मनुष्य पतित से पतित तथा अच्छे से अच्छा बन सकता है। परन्तु स्वप्नगत शक्तियों का प्रभाव हमें तत्काल नहीं पता चलता। क्योंकि स्वप्नगत शक्तियां मनुष्य के सूक्ष्म शरीर पर प्रभाव डालती हैं जहां कि साधारण मनुष्य की पहुँच नहीं है। सूक्ष्म शरीर के द्वारा जब उसका स्थूल शरीर पर प्रभाव प्रतीत होने लगता है, तभी उसका परिणाम पता चलता है परन्तु होता यह है कि जब वह प्रभाव सूक्ष्म शरीर द्वारा शनैः २ स्थूल शरीर पर प्रकट होता है तब हम उस में कार्यकारण भाव नहीं जोड़ सकते अर्थात् हमें यह नहीं पता चलता कि अमुक बिमारी आदि का कारण स्वप्न है। बहुत से रोग मनुष्य को ऐसे हो जाते हैं जिनका कोई कारण नहीं पता चलता। यदि रोगों की उत्पत्ति आदि पर सूक्ष्म विचार हो तो हम बहुत से रोगों के कारण में स्वप्नों को पायेंगे। इस लिये हम तो यह समझते हैं कि

जागृत की अपेक्षा स्वप्न का प्रभाव मनुष्य पर अधिक होता है। भेद केवल इतना ही है कि स्वप्न का प्रभाव हमें स्पष्ट नहीं प्रतीत होता। और फिर स्थूलशरीर के भोगों का क्षेत्र बहुत ही सीमित है। परन्तु स्वप्न के भोगों का क्षेत्र बहुत बड़ा है। इस सम्बन्ध में हम यह कह सकते हैं कि जो मन का क्षेत्र व परिधि है, वही क्षेत्र व परिधि स्वप्न के भोग की भी है। हम मानसिक शक्ति पर लिखते हुए यह दिखा चुके हैं कि मन ब्रह्माण्ड में सर्वत्र विचर सकता हैं। सांख्य-शास्त्र के आधार पर "प्रकृतेराद्यं कार्यं महदाख्यं तन्मनः" प्रकृति का महत् नामक जो प्रारम्भिक कार्य है वह मन कहलाता है। मनुष्य का अपना मन इस प्रकृति के सर्व व्यापक महत् नामक मन को माध्यम बनाकर ब्रह्माण्ड में सर्वत्र विचर सकता है। इसी दृष्टि से उपर्युक्त कण्डिका में कहा है कि यह विज्ञानात्मा मन को आश्रय बना जहां भी इंच्छा होती है वहां चला जाता है। परन्तु प्रश्न यह पैदा होता है कि क्या यह आत्मा शरीर को छोड़ कर बाहिर जाता है या शरीर में रहता हुआ ही बाहिर जाता है। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि यह आत्मा शरीर को बिल्कुल छोड़ कर बाहिर नहीं जाता। जिस प्रकार विद्युत् अपने आश्रय स्थान में रहती हुई तार (wire) के माध्यम द्वारा सर्वत्र पहुंच जाती है, उसी प्रकार यह मन भी शरीर में रहता हुआ ही अपने कारणभूत महत् नामक मनस्तत्व द्वारा सर्वत्र जा सकता है। जिसका मन जितना निर्मल व सूक्ष्म होगा उतनी ही मनोविद्युत शक्तिशाली रूप में अभीष्ट स्थान की ओर जा सकेगी। अभ्यास से भी यह मनोविद्युत प्रबल बनाई जा सकती है। साधारण

मनुष्य की यह मानसिक शक्ति स्वप्न में पृथ्वीलोक की ओर ही आती है। और प्रायः कर अपने जागृत जगत् के आस पास ही मंडराया करती है। इस लिये साधारण मनुष्यों को बार २ उन्हीं बातों के स्वप्न आया करते हैं जो बातें जागृत अवस्था में उनके मन पर अंकित हो चुकी हैं। परन्तु ज्ञानी व अध्यात्मपुरुष की मानसिक शक्ति स्वप्न में नये से नये रहस्यों को ढूंढा करती है। वैदिक सिद्धान्त के आधार पर मन बुद्धि आदि प्राकृतिक हैं, इनको जैसा अभ्यास डाला जायेगा वैसे ये बन जायेंगे। ये तो हंस रूप हैं, जैसा उड़ने का अभ्यास डाला जायगा वैसा ये उड़ेंगे। साधारण मनुष्य के हंस के पंख तो कटे हुए होते हैं। इस लिये वे सदा पृथ्वी पर नीचे ही आते हैं। नीची तथा छोटी बातों पर ही जाने का उनका स्वभाव होता है। परन्तु जो मनुष्य उन्नति करना चाहता है, उसे अपने हंस को नियन्त्रित कर ऊपर की ओर को उड़ाना चाहिऐ। इसी दृष्टि से ब्राह्मणादि वैदिक वाङ्मय में ऊपर द्युलोक की ओर आरोहण का बहुत विधान किया है। जो इस पृथ्वी से ऊपर दिव्य लोकों में जाना चाहता है, उसे सदा सूर्य से देदीप्यमान द्युलोक का ध्यान करना चाहिये। यह ध्यान मस्तिष्क व मस्तिष्क से ऊपर हो सकता है। और कई प्रकार के दुष्वप्न्यों को दूर करने का यह ऊपर का ध्यान अच्छा साधन है। ये बुरे विचार या रात्रि में होने वाले दुष्वप्न्य जीवनीय शक्ति को नीचे की ओर ले जाकर हमारा पतन कर देते हैं। यह ऊपर आरोहण का सदा अभ्यास रात्रि में भी मन को ऊपर ही रक्खेगा और हमारी जीवनीय शक्ति का पतन नहीं होगा।

यह विज्ञानात्मा स्वप्न के मध्य में क्या २ करता है? यह अगले श्लोक में बताया गया है।

स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो रूपाणि देवः कुरुते बहूनि।
उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुतेवापिभयानि पश्यन्॥

अर्थात यह विज्ञानात्मा स्वप्न के अन्दर ऊंच नीच आदि कई प्रकार के रूपों को धारण करता है। कभी स्त्रियों के साथ आमोद प्रमोद व हास्य आदि करता है। कभी नानाभांति के भोजनों का आस्वादन ले रहा होता है। और कभी भय आदि के स्वप्न देखा करता है।

अगले श्लोक में यह बताया गया है कि स्वप्न में पहुँचे हुए मनुष्य के सम्बन्ध में क्या सावधानी रखनी चाहिये? वह श्लोक इस प्रकार है—

आराममस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चनः।
तं नायतं बोधयेद् दुर्भिषज्यं हास्मै भवति यमेष न प्रतिपद्यते॥

अर्थात सब मनुष्य यह तो देखते हैं कि यह पुरुष आराम कर रहा है। परन्तु वह स्वयं क्या है? इसे कोई नहीं देखता। आगे कहा है कि उसे सहसा न जगावे। क्योंकि सहसा जगाने से यह भी हो सकता है कि चितिशक्ति किसी अंग में न पहुंचे या अधूरी पहुंचे और वह अंग विकृत हो जाय। दिवा स्वप्न में भी मनुष्य जब विचार में खूब तन्मय हो और विशेष-कर गम्भीर चिन्तन में हो, उस समय भी उसकी तन्मयता में सहसा व्याघात नहीं करना चाहिए। क्योंकि इस समय भी

चितिशक्ति स्थूल शरीर के अंगों को छोड़े हुए होती है। जब तन्मयता बहुत बढ़ जाती है तब वह इन्द्रियों के अन्दर विराजमान नहीं होता। देखता हुआ भी वह नहीं देख रहा होता। सुनता हुआ भी नहीं सुन रहा होता। इसलिये जागृतस्वप्न और रात्रि स्वप्न इन दोनों में इस दृष्टि से कोई विशेष भेद नहीं है। इसी दृष्टि से याज्ञवल्क्य ने अगले श्लोक में कईयों का ऐसा मत भी दिखा दिया है, जो कि रात्रिस्वप्न को जागृतावस्था का ही एक दूसरा रूप मानते हैं। प्रकरण इस प्रकार है—

"अथो खल्वाहुर्जागरितदेश एवास्यैष इति यानि ह्येव जाग्रत् पश्यति तानि सुप्त इत्यत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति"।

अर्थात् कईयों का यह कहना है कि स्वप्नावस्था भी जागृत का ही एक स्थान विशेष है। क्योंकि जिस घटना आदि को जागृतावस्था में देखता है, उन्हें ही सोते हुए देखा करता है।

यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो यह मानना पड़ेगा कि आत्मा जो इस शरीर का अधिष्ठाता है, वह जागृतावस्था में जिस प्रकार कार्य करता है, स्वप्नावस्था में भी वैसा ही कार्य करता है। दोनों में भेद केवल इतना ही है कि जागृतावस्था में वह स्थूल शरीर द्वारा कार्य करता है। और स्वप्नावस्था में वह सूक्ष्म शरीर द्वारा करता है। कार्य तो वह दोनों अवस्थाओं में करता है परन्तु केवल साधन का भेद हो जाता है। इस लिये वैदिक शास्त्रों में स्वप्नावस्था का यह स्वरूप बताया कि स्थूल शरीर से उपयोग न लेकर कार्य करना या अन्तर्मुख हो जाना स्वप्नावस्था है। बहिःप्रज्ञ न होकर अन्तःप्रज्ञ हो जाना, बाह्य सम्बन्धों को

छोड़ कर अन्दर सम्बन्ध जोड़ना इत्यादि स्वप्नावस्था है। इस में रात्रि स्वप्न, दिवास्वप्न आदि सब समाविष्ट हो सकते हैं।

आगे अगली कण्डिकाओं में यह बताया गया है कि यह आत्मा जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में क्रम से कैसे आता जाता है ? वह इस प्रकार है।

"सवा एष एतस्मिन् सम्प्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यञ्च पापञ्च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्या द्रवति स्वप्नायैव। स यत् तत्र किञ्चित् पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसंगो ह्ययं पुरुष इति"

अर्थात् यह आत्मा स्वप्न में रतिसुख का अनुभव कर मित्र तथा बन्धु बान्धवों के साथ विचरण कर पुण्य और पाप को देख कर ही सुषुप्ति में जाता है। और फिर सुषुप्ति के अनन्तर सृष्टि नियम के अनुसार शरीरस्थ प्रत्येक स्थान की ओर स्वप्न लेने के लिये जा पहुंचता है जो कुछ सुषुप्ति में वह देखता है, उससे वह अनुगत नहीं होता क्योंकि वह असङ्ग रूप है।

इसी सम्बन्ध में अगली कण्डिका इस प्रकार है--

स वा एष स्वप्ने रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यञ्च पापञ्च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्या द्रवति बुद्धान्तायैव।

अर्थात् यह आत्मा जागृतावस्था में रमण कर विचर कर और पाप पुण्यों को देखकर ही स्वप्न में जाता है। और फिर जागृतावस्था के लिये न्यायानुसार शरीरस्थ प्रत्येक योनि की तरफ दौड़ आता है। वह जागृतावस्था में जो कुछ पाप और पुण्य देखता है, उस से अनुगत नहीं होता क्योंकि वह असंग रूप है।

इसी सम्बन्ध में अगली कण्डिका इस प्रकार है—

"स वा एव एतस्मिन् बुद्धान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यञ्च पापञ्च पुनः प्रति न्यायं प्रतियोन्या द्रवति स्वप्नान्तायैव ।१७।

यह आत्मा स्वप्न में रमण कर विचरण कर पाप पुण्यों को देखकर इस जागृतावस्था में आता है। और फिर न्यायानुसार स्वप्न के लिये आन्तरिक प्रति योनि की तरफ दौड़ आता है।

इन कण्डिकाओं में दो तीन बातें विचारणीय हैं। एक तो यह कि आत्मा जागृत स्वप्नादि अवस्थाओं में रति का अनुभव करता है, इधर उधर विचरता है, इत्यादि सभी कार्य करता है। परन्तु दूसरी तरफ इन से जो पाप पुण्य होते हैं, उनसे यह आत्मा अनुगत नहीं होता। अर्थात् आत्मा को पाप पुण्य आदि कुछ नहीं लगते। क्योंकि उसे असंग रूप अर्थात् आसक्ति रहित बताया है। यहां प्राचीन भाष्यकार आदि इस प्रकार की व्याख्या करते आये हैं कि यहां निरुपाधिक आत्मा का वर्णन है। अर्थात् शरीर आदि उपाधियों से रहित शुद्ध आत्मा का वर्णन है। परन्तु जहां तक तो रति के अनुभव व विचरने आदि का प्रश्न है वहां तो यह स्पष्ट है कि ये रति आदि की बातें सौपाधिक अवस्था अर्थात् शरीरादि के होने पर ही हो सकती हैं। परन्तु जहां इनके पाप पुण्य का प्रश्न आया वहां उसके निरुपाधिक स्वरूप की ओर संकेत कर दिया। वास्तव में सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो शरीरादि उपाधि से युक्त आत्मा ही रति आदि का अनुभव करता है। और इससे जो पाप पुण्य होते हैं, वे सौपाधिक अवस्था में अनुगत भी होते हैं। अथवा यूं भी कह सकते हैं

कि प्रकृति ही सब कुछ करती है, और पाप पुण्य के फल भी वही भोगती है। परन्तु आत्मा यदि केवल मात्र द्रष्टा रहता है प्रकृति की लीला में अपने आप को तदाकार नहीं कर देता। तब तो इन उपाधियों से छूट जाता है। परन्तु यदि प्रकृति की इन लीलाओं में अपने आप को तदाकार कर लेता है तो नहीं छूट सकता। इस लिये पाप पुण्य सौपाधिक आत्मा के तो अनुगत होते ही हैं. निरुपाधिक के नहीं।

अन्त में स्वप्न और जागृत दोनों अवस्थाओं में आवागमन के रूप को इस प्रकार उदाहरण द्वारा दिखाया गया है—

> तद्यथा महामत्स्य उभे कूले अनुसंचरति पूर्वं चापरं चैव
> मेवायं पुरुष एतावुभावन्तानु संचरति स्वप्नान्तं च
> बुद्धान्तञ्च ।१८।

अर्थात् जिस प्रकार नदी में पड़ा हुआ एक महामत्स्य पूर्वापर किनारों की ओर स्वेच्छा से आता जाता है। उसी प्रकार यह आत्मा स्वप्न व जागृत दोनों अन्तों की ओर आवागमन करता रहता है।

स्वप्नावस्था में विज्ञानात्मा का निवास-स्थान--

बृहदारण्यकोपनिषत् २।१।१६ में अजातशत्रु ने गार्ग्य से प्रश्न किया कि जब यह पुरुष स्वप्नावस्था में होता है, तब यह विज्ञानमय पुरुष कहां निवास करता है? और फिर निद्रा के समाप्त होने पर कहां से आ जाता है? इस बात को गार्ग्य के न समझने पर अजातशत्रु ने कहा कि—

स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतत् सुप्तोऽभूद् य एष विज्ञानमयः पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते तानि यदा गृह्णाति अथ हैतत् पुरुषः स्वपिति नाम तद् गृहीत एव प्राणो भवति गृहीता वाग् गृहीतं चक्षुर्गृहीतं श्रोत्रं गृहीतं मनः ।१७।

अर्थात् जहां यह विज्ञानमय पुरुष सोता है, वहां वह इन प्राणों (इन्द्रियों) की जो अपने २ विषयों में जाने की शक्ति है, अर्थात् जो इन में चितिशक्ति है, उसको लेकर हृदय के अन्दर विद्यमान आकाश में जा सोता है। इन्द्रियों की इन चेतनामयी शक्ति को जब यह ग्रहण कर लेता है, अर्थात् निरोध कर देता है तब इन इन्द्रियों में विद्यमान प्राणशक्ति निरुद्ध हो जाती है। इस लिये वाणी, चक्षु, श्रोत्र, तथा मन आदि भी निरुद्ध हो जाते हैं।

यहां पर प्राणों से तात्पर्य इन्द्रियों से है। परन्तु उन नसों (Nerves) को भी यहां ग्रहण करना चाहिए जिन में कि चेतना का प्रवाह बहरहा होता है। अर्थात् जो कि इन्द्रियों की चेतना शक्ति (विज्ञान) के एक सिरे से दूसरे सिरे तक जाने के माध्यम के रूप में प्रयुक्त होती हैं। हृदय से इन्द्रियगोलकों तक यह चेतना शक्ति प्राणों (Nerves) में विद्युत की तरह बहती है। स्वप्नावस्था में यह विज्ञानमय पुरुष अपनी चेतना-शक्ति को इन में से समेट लेता है। यह जो चेतना शक्ति वाणी, श्रोत्र, कान तथा मन आदि त्रिविध रूपों में विभक्त होकर कार्य करती है, यह तत्तत् स्थानों से सम्पर्क के कारण

विविध रूप धारण कर लेती है। स्वप्नावस्था में यह विज्ञानमय आत्मा मन में विचरण करता होता है। इस लिये स्वप्नावस्था में भी यह वैविध्य रहता ही है। और इस अवस्था में सब इन्द्रियों के सूक्ष्म भोग वह भोगता है। परन्तु सुषुप्ति में वह विज्ञानमय पुरुष मन आदि किसी भी प्राकृतिक तत्व से चिति-शक्ति द्वारा सक्रिय सम्बन्ध नहीं रखता, इस लिये वहां कोई भी ऐन्द्रिक ज्ञान व भेदादि कुछ भी नहीं होता। उपर्युक्त कण्डिका में जो यह कहा कि वाणी, चक्षु, श्रोत्र तथा मन आदि इन्द्रियां निरुद्ध हो जाती हैं इसका भाव यह है, कि प्रायः कर स्थूल शरीर से इनका सम्बन्ध नहीं रहता। परन्तु सूक्ष्मरूप से कार्य तो इनका स्वप्नावस्था में भी होता रहता है।

इस स्वप्नावस्था में यह मन सभी इन्द्रियों के भोग भोगता है। और कभी २ स्वप्नावस्था में यह विज्ञानात्मा सूक्ष्म शरीर में इतनी शक्ति से कार्य करता है कि स्थूल शरीर भी इससे प्रभावित हुए विना नहीं रहता। स्वप्नावस्था में रोना, हंसना, मानसिक स्त्रीसम्भोग से वीर्यपतन होना, बिस्तर पर से उठ कर चल पड़ना, लेख लिख लेना इत्यादि ऐसे अनेकों कार्य हैं, जो कि किसी अंश में स्थूल शरीर के जागृत हुए विना नहीं हो सकते। और यहां तक देखा जाता है कि कभी केवल एक इन्द्रिय ही नहीं जागृत होती और सब इन्द्रियां जागृत हो जाती हैं। किस स्वप्न में कौनसी इन्द्रिय निरुद्ध होती है और कौनसी जागृत होती है, कितनी निरुद्ध होती है और कितनी जागृत होती है, इत्यादि बातों का सूक्ष्म रूप में समन्वय भिन्न २ स्वप्नों

में भिन्न २ प्रकार का होता है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिये अगली कण्डिका में कहा कि—

> स यत्रैतत् स्वप्न्यया चरति ते हास्य लोकास्तदुतेव महाराजो भवत्युतेव महाब्राह्मण उतेवोच्चावचं निगच्छति स यथा महाराजो जानपदान् गृहीत्वा स्वे जनपदे यथाकामं परिवर्तेतैवमेवैष एतत् प्राणान् गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते।

अर्थात् यह विज्ञानमय पुरुष जब स्वप्नवृत्ति से विचरता है, तब जहां जहां वह जाता है, उस समय वे ही इसके लोक होते हैं। उस समय वह कभी महाराजा के समान होता है, कभी ऊंच और कभी नीच बन जाता है। और जैसे महाराजा अपने राज्य के भृत्यों को लेकर अपने जनपद में स्वेच्छानुसार घूमता फिरता तथा परिवर्तन करता रहता है। उसी प्रकार यह विज्ञानमय पुरुष इन्द्रियों को लेकर इस शरीर में स्वेच्छानुसार लीला करता रहता है।

इस कण्डिका में यह स्पष्ट कर दिया कि यह विज्ञानात्मा स्वप्न समय में अपने शरीर रूपी राष्ट्र में घूमता रहता है और परिवर्तन करता रहता है। जिस समय शरीर के जिस हिस्से में पहुँच जाता है वह हिस्सा कार्यशक्ति के आधार पर जागृत व अर्धजागृत हो जाता है और कार्य करता है। शरीर का वह हिस्सा उस समय इस आत्मा का लोक होता है। स्वप्न में स्त्री सम्भोग करते हुए वह उपस्थेन्द्रिय में पहुंचा हुआ होता है।

उस समय वही इसका लोक है। जब नानाविध भोजनों का रसास्वाद लेता है, तब मुख उसका लोक होता है। इसी प्रकार स्वप्नवृति से यह आत्मा जिस २ अंग में पहुँचता है, उस २ अंग का कार्य प्रारम्भ हो जाता है। परन्तु इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि शरीरान्तर्गत लोक ही इस के लोक नहीं हैं। बाहिर भी इसके लोक हैं। यह कभी अन्यत्र दूर देश में जाकर ये ही भोग भोगता है। जैसा कहा भी है कि "सईयते अमृतो यत्रकामम्" अर्थात् वह अमृत जहां २ कामना होती है वहां २ विचरता है।

इसी प्रकार प्रश्नोपनिषत् में भी ब्रह्मर्षि पैप्लाद से गार्ग्यने कुछ प्रश्न किये हैं। स्वप्न के संबंधमें भी गार्ग्यने प्रश्नकिया है। वह प्रकरण इस प्रकार है। गार्ग्य पूछता है--

भगवन्नेतस्मिन् पुरुषे कानि स्वपन्ति कान्यस्मिन् जाग्रति
कतर एष देवः स्वप्नान् पश्यति ?

हे भगवन इस पुरुष में कौन तो सोते हैं ? कौन जागते हैं ? और कौनसा देव स्वप्नों को देखता है ? इस पर पैप्लाद ऋषि इस प्रकार बोले—

अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति। यद्दृष्टंदृष्टमनुप-
श्यति श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुशृणोति देशदिगंतरैश्च प्रत्य-
नुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति दृष्टञ्चादृष्टञ्च श्रुतञ्चाश्रुतं चानुभूतं
चाननुभूतं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति।

(४ र्थ प्रश्न)

अर्थात् यह मन रूपी देव स्वप्न में अपनी महिमा का अनुभव करता है। देखे हुए पदार्थों को फिर देखता है। सुनी हुई

बातों को फिर सुनता है। देश-विदेशों तथा नाना दिशाओं में अनुभूत घटना आदि को फिर अनुभव करता है। और दृष्ट अदृष्ट, श्रुत, अश्रुत, अनुभूत, अननुभूत, सत् और असत् सभी प्रकार की बातों को वह सर्वनामक मन स्वप्न में देखता है।

इस प्रश्नोत्तर में कई रहस्यमय बातों को खोला गया है। वह यह कि मन दृष्ट, श्रुत तथा अनुभूत बातों को स्वप्न में पुनः देखता ही है, परन्तु कभी २ अदृष्ट; अश्रुत तथा अननुभूत बातों को भी वह स्वप्न में देख लेता है। अर्थात् वह मनुष्य अपनी मानसिक शक्ति के प्रभाव से उन भूत व भविष्य की बातों को भी पहले ही स्वप्न में देख लेता है, जो कि चर्मचक्षुओं की सीमा से बाहिर है। और इसी प्रकार कर्ण आदि अन्य इन्द्रियों से सम्बद्ध बातों को भी यह मन जान लेता है। इस का भाव यह है कि, भूत व भविष्य से सम्बन्ध रखने वाली, इस जन्म की व अन्य जन्मों की बातों को वह मनुष्य का मन स्वप्न में जान सकता है।

इस प्रकार रात्रिस्वप्न में मनुष्य के मन पर बुद्धि आदि का कोई नियन्त्रण नहीं होता। कोई युक्ति नहीं, कोई तर्क नहीं, कोई समालोचना नहीं। क्योंकि बुद्धि आदि अन्य इद्रियां सब इस रात्रिस्वप्न में सुप्त होती हैं।

चतुर्थ अध्याय

दिवा-स्वप्न

दिवा-स्वप्न मनुष्य के जीवन पर बहुत प्रभाव डालते हैं। दूसरे शब्दों में दिवा-स्वप्न को जाग्रत्स्वप्न भी कह सकते हैं। इस में बुद्धि व इन्द्रियां आदि पूर्णरूप से अपना कार्य तो नहीं कर रही होतीं, परन्तु इन का मन पर कुछ न कुछ नियन्त्रण अवश्य रहता है चाहे बहुत स्वल्प-मात्रा में हो। यहां युक्ति, समालोचना व तर्क का भी कुछ स्थान है।

इस दिवा-स्वप्न अर्थात् जाग्रत्स्वप्न के स्वरूप के सम्बन्ध में महोपनिषत् में एक श्लोक आता है। वह इस प्रकार है—

अरूढमथवा - रूढं सर्वथा तन्मयात्मकम् ।
यज्जाग्रतो मनो राज्यं तज्जाग्रत्स्वप्न उच्यते।

५ अ० ४६ श्लोक

जो विचार अरूढ हो अथवा रूढ हो, हर प्रकार से मनुष्य उस विचार में तन्मय होजाय-इसप्रकार तन्मयता की अवस्था में जो मन का राज्यहै, वह जाग्रत्स्वप्न कहलाता है ।

इस उपर्युक्त श्लोक में दो प्रकार के विचारों की ओर निर्देश है । एक विचार तो रूढ हैं, अर्थात् जो हम पर चढ़े हुए हैं; जिन के हम आदि हैं, अभ्यस्त हैं । दूसरे वे विचार जिन के हम आदि व अभ्यस्त तो नहीं हैं परन्तु अचानक कभी २ आ जाते हैं । इन दोनों प्रकार के विचारों में यदि हम तन्मय हो जावें, तो यह हमारी अवस्था जाग्रत्स्वप्न की होती है । रात्रिस्वप्न की अपेक्षा इस में, बुद्धि व समालोचना आदि का कुछ थोड़ा बहुत स्थान अवश्य होता है । परन्तु जाग्रत्स्वप्न की मुख्य शर्त यह है कि, मनुष्य जिन विचारों में लगा हुआ है; उन में वह तन्मय हो । माण्डूक्योपनिषद् की व्याख्या करते हुए पं० गुरुदत्त जी ने इसी स्वप्नावस्था को (Contemplative Phase) कहा है ।

ऋ० १०।१६४।५ में भी जाग्रत्स्वप्न को संकल्प कहा गया है । वहां आता है, "जाग्रत्स्वप्नःसंकल्पः" अर्थात् जाग्रत्स्वप्न संकल्प होता है । संकल्प मानसिक कर्म मानसिक विचारधारा को कहते हैं । इस में केवल मनोव्यापार ही होता है । इस प्रकार वेद और उपनिषद् आदि जाग्रत् स्वप्न का रूप--संकल्प करना, विचारधारा में तन्मय हो जाना-इत्यादि मानते हैं ।

दिन में जागते हुए साधारण मनुष्य भी जब बाह्य दुनियां से सम्बन्ध तोड़कर कल्पना के घोड़े दौड़ाने लगता है, तब वह

स्वप्नावस्था में होता है। इसको जाग्रत स्वप्न (Day Dream) कहते हैं। जिन मनुष्यों का दिन का जीवन विश्रान्ति में ही बीतता है। इन्द्रियादिकों का कोई उपयोग नहीं होता, तो समझ लो वे स्वप्न में विचर रहे हैं। और जो मनुष्य इन्द्रियों का निरन्तर पूर्ण उपयोग करते हैं, विश्रान्ति का उनके पास प्रायः कोई समय नहीं होता, तो वे निश्चय से कर्मयोगी हैं और स्वप्न से नितान्त दूर हैं। हम देखते यह हैं कि, मनुष्य जिसे जागृतावस्था कहता है, उस में भी वह जागृत नहीं होता। मनुष्य यह समझता है कि, मैं देख रहा हूँ, परन्तु असलियत यह है कि, वह देख नहीं रहा होता। देखते हुए भी वह चक्षु इन्द्रिय का पूर्ण उपयोग नहीं कर रहा होता। एक प्रकार से प्रायः सब मनुष्य जागृत व स्वप्न की मिश्रित अवस्था में विचरते हैं। इन्द्रियों के अपूर्ण उपयोग से जो हमें एक पक्षीय दर्शन व मिथ्या दर्शन होता है, उसके आधार पर कल्पना आदि मन की लीला भी अपूर्ण होती है।

मन की अन्तर्लीला भी पात्र के आधार पर कई प्रकार की हो सकती है। स्थूल रूप से हम उसके तीन विभाग कर सकते हैं। एक साधारण मनुष्य की, दूसरे ज्ञानी मनुष्य की और तीसरे योगी मनुष्य की। साधारण मनुष्य की दिवास्वप्न की अवस्था आपत्ति के कष्ट के होने पर या किसी प्रसंग के आ जाने पर आपाततः स्वयं ही हो जाती है। परन्तु ज्ञानी व योगी मनुष्य स्वयं यह अवस्था पैदा भी करते हैं। ज्ञानी मनुष्य भी जब कभी किसी गम्भीर विषय, गम्भीर स्कीम या किसी पदार्थ आदि के निर्माण से पहले उसकी रूपरेखा पर

विचार प्रारम्भ करता है, तब उसे भी स्वप्नावस्था में जाना पड़ता है। कल्पना के घोड़े दौड़ाने पड़ते हैं। उस समय उसकी कल्पना-शक्ति बुद्धि के नियन्त्रण समालोचना आदि से नितान्त दूर होती है। परन्तु यह आवश्यक नही कि, वे अन्त तक निरे कल्पना के खेल ही बने रहें। वे वास्तविकता में भी परिणत हो सकते हैं। स्वप्नावस्था में जब मनुष्य किसी गम्भीर विषय का ढांचा निर्माण करता है, उसको जब बुद्धि की कसौटी पर कसता है अथवा वास्तविकता में परिणत करता है तब वह स्वप्नावस्था से ऊपर होता है।

साधारण मनुष्य और ज्ञानी मनुष्य में यही विभिन्नता है कि, साधारण मनुष्य अपने स्वप्नों को निरी कल्पना की खेल बना रहने देता है। उसे परवाह नहीं कि ये बुद्धि प्रतिकूल हैं कि नहीं, क्रिया में परिणत होते हैं कि नहीं, वे प्रायः (Day Dreams) दिवास्वप्न ही बने रहते हैं। परन्तु ज्ञानी मनुष्य अपने स्वप्नों को बुद्धि से परख कर क्रिया में परिणत कर देता है और योगी मनुष्य की स्वप्नावस्था तो ज्ञानी मनुष्य से भी उत्कृष्ट व सर्वाङ्गपूर्ण होती है। उसकी स्वप्नावस्था से असली सचाई का प्रकटन होता है। इस लिये बुद्धि प्रतिकूलता का यहां कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

दिवा स्वप्न की अवस्था साधारण मनुष्य के लिये तो बहुत हानि कारक है। परन्तु ज्ञानी व योगी पुरुष के लिये यह अत्यन्तावश्यक है। क्योंकि उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्ति का यह सर्वोत्तम साधन है। इस में ज्ञानी व योगी मनुष्य अपनी इन्द्रियों को बाह्य

विषयों से हटाकर अन्तर्मुख करता है, जिससे कि एकाग्र चित्त होकर खूब अच्छी तरह से उस विषय पर ऊहापोह इत्यादि कर सकता है।

ब्रह्म की स्वप्नावस्था—

माण्डूक्योपनिषत् में चतुष्पाद् ओंकार की व्याख्या करते हुए ओ३म अर्थात ब्रह्म की चार अवस्थाएं बताई गई हैं। 'ओ३म' में अ. उ. और म' ये तीन तो मात्राएं हैं और चौथी अमात्र अवस्था है। इन मात्राओं में 'अ' जागृतावस्था 'उ' स्वप्नावस्था और 'म' सुषुप्ति अवस्था मानी गई है। दूसरे शब्दों में स्थूल सृष्टि अकार है और यह ब्रह्म की जागृतावस्था है। सूक्ष्म सृष्टि उकार है और यह ब्रह्म की स्वप्नावस्था है। यह ब्रह्म की स्वप्नावस्था दो बार आती है एक तो स्थूल सृष्टि बनने से पहले जो सूक्ष्म सृष्टि की अवस्था है। और दूसरी सृष्टि विनाश से लेकर पूर्ण प्रलय पर्यन्त तक की अवस्था है। ये दोनों अवस्थाएं ब्रह्म की स्वप्नावस्थाएं हैं। स्थूल सृष्टि से सूक्ष्म सृष्टि ज्यादः व्यापक होती है। इसी आधार पर ब्रह्म की जागृतावस्था से उसकी स्वप्नावस्था ज्यादःव्यापक समझनी चाहिए। इसी प्रकार मनुष्य की भी स्वप्नावस्था जागृतावस्था से ज्यादः व्यापक क्षेत्र वाली होती है। स्वप्नावस्था में मनुष्य इस स्थूल शरीर को छोड़ कर सूक्ष्म शरीर को कार्यक्षेत्र बनाता है। यह सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर की अपेक्षा ज्यादः व्यापक होता है। इसको हम इस प्रकार भी समझ सकते हैं कि मन व इन्द्रियां आदि पर जो मैल आजमी है उसको दूर कर उन्हें लगभग इतना निर्मल व सूक्ष्म बनाया जा सकता है, जितना कि

उनके पैदा करने वाले सूक्ष्मभूत हैं। जब यह अवस्था पैदा हो जाती है तब वे सूक्ष्मभूत मन आदि के सर्वत्र विचरने के माध्यम बन जाते हैं। क्योंकि सूक्ष्मभूत सर्वत्र व्यापक हैं। इस लिये मन आदि उन माध्यम द्वारा ब्रह्माण्ड में सर्वत्र पहुँच सकते हैं। अथवा जिधर का आकर्षण ज्यादः हो उधर चले जाते हैं। एक स्थान पर बैठे हुए दूर २ की बातों तथा घटनाओं आदि का ज्ञान हो जाना इसी कारण होता है। और इसी प्रकार स्वप्न में भी कभी २ साधारण मनुष्य को दूर की घटनाओं का ज्ञान हो जाता है। यह ज्ञान मनुष्य की अन्तः प्रज्ञावस्था में होता है। जागृत की बहिः प्रज्ञा ब्रह्म की तृतीय मात्रा अर्थात् सुषुप्ति में प्रज्ञानघन बन जाती है। और स्वप्नावस्था में प्रज्ञानघन न होकर प्रज्ञानघन के निकट अर्थात् अन्तः प्रज्ञा होती है। जागृतावस्था में तो प्रज्ञा को शरीर का सारा स्थान घेरना पड़ता है और फिर वह शरीर से बाहिर भी जाती है। इस लिये प्रज्ञा में घनता नहीं रहती। घनता न होने से प्रकाश भी कम होता है।

इस लिये पदार्थों व रहस्यों का असली प्रकटन जाग्रत् में नहीं हो सकता। परन्तु स्वप्नावस्था में प्रज्ञा की घनता जागृत की अपेक्षा ज्यादः होती है। इस लिये स्वप्न जागृत की अपेक्षा ज्यादः प्रकाश करने वाले होते हैं। मनुष्य का अपना असली रूप स्वप्नों को देखने से ही ज्यादः स्पष्ट हो सकता है। इसलिये अन्तः प्रज्ञ अर्थात् स्वप्न में पहुँच कर मनुष्य जागृत की अपेक्षा ज्यादः ज्ञान प्राप्त कर सकता है। परन्तु हमें यह याद रखना चाहिए कि उपर्युक्त सब बातें दिवास्वप्न में ज्यादः सम्भव है। दिन में जितना एकाग्र होकर मन और प्रज्ञा को अन्तर्मुख करेंगे उतना ही विषय

का रहस्य स्पष्ट होगा। और इसी अन्तर्मुख की अवस्था को बढ़ाते २ यदि हम समाधि अवस्था तक पहुंचा दें तो इस प्रज्ञारूपी दर्पण पर अन्दर गुहा निहित आत्मा व परमात्मा का प्रतिबिम्ब अवश्य पड़ेगा। इसी स्वप्न की अन्तिम सीमा को समाधि कहते हैं। इसलिये स्वप्न स्थान में पहुंचकर मनुष्य की अन्तः प्रज्ञावस्था में सामान्य संस्कार, जन्म जन्मान्तरों के संस्कार, पदार्थों के रहस्य आदि भी प्रकाशित हो सकते हैं। इस माण्डूक्योपनिषत् में स्वप्न के सामान्य रूप का तो दिग्दर्शन होता ही है, परन्तु स्वप्न के अन्तिम रूप समाधि पर ज्यादः बल दिया है। वहां स्वप्न स्थान में पहुंचने का फल ज्ञानप्राप्त व ब्रह्मवित् होना तक बताया गया है। वह प्रकरण इस प्रकार है—

"स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वा द्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिं समानश्च भवति नास्याब्रह्मवित् कुले भवति य एव वेद।"

अर्थात् यह स्वप्नस्थान केवलमात्र मनोव्यापार होने के कारण तैजस है। वेद में मन को "ज्योतिषां ज्योतिः" ज्योतिओं का भी ज्योति कहा है।

जिस प्रकार अकार से अगला स्थान उकार का है, उसी प्रकार जागृत स्थान से अगली स्थिति स्वप्नस्थान की आती है। और जिस प्रकार उकार, अकार और मकार के मध्य में होने के कारण दोनों से सम्बद्ध है, उसी प्रकार स्वप्नस्थान, जागृत और सुषुप्ति के मध्य का स्थान है, दोनों से सम्बन्ध रखता है। इस स्वप्नस्थान का फल यह दिखाया है कि "उत्कर्षति ह वै ज्ञान-सन्ततिम्" स्वप्नस्थान में पहुंच कर मनुष्य का ज्ञान बहुत

उत्कृष्ट हो जाता है। और फिर यह कहा कि "नास्याब्रह्मवित् कुले भवति" इस स्वप्नस्थान में पहुँचे हुए मनुष्य के कुल में कोई भी अब्रह्मवित् अर्थात् अज्ञानी व ब्रह्म को न जानने वाला नहीं पैदा होता।

इस प्रकार स्वप्न का फल ब्रह्म को जानना तथा ज्ञान की वृद्धि करना बताया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि यहां पर सामान्य स्वप्न का वर्णन नहीं है। यह स्वप्न समाधि रूप है। परन्तु यह याद रखना चाहिए कि मनुष्य जितना अन्तर्मुख होता जायेगा उतना ही ज्ञान का विस्तार होता जायगा। अन्तर्मुख व अन्तःप्रज्ञ अवस्था में भी कई अवस्थाएं हैं। इस लिये किस अवस्था में आत्मा व परमात्मा आदि प्रकाशित होते हैं यह अन्तर्मुख पर आश्रित है। और ब्रह्म की स्वप्नावस्था अर्थात् जो सूक्ष्म-जगत् है उसकी झांकी व दर्शन मनुष्य को अपनी स्वप्नावस्था में जा कर ही होता है। इस लिए ब्रह्म की स्वप्नावस्था और मनुष्य की स्वप्नावस्था एक दूसरे से परस्पर सम्बद्ध है।

दुःस्वप्न-प्रकरण

(श्रुति भाग)

पञ्चम अध्याय

स्वप्न का सामान्य-स्वरूप

स्वप्न के सम्बन्ध में अथर्ववेद के १९ वें काण्ड का ५६ वां सूक्त विशेष विचारणीय है। प्रथम मन्त्र में यह दिखाया गया है कि शरीर के साथ स्वप्न का क्या सम्बन्ध है ? जिस प्रकार वायसराय इंगलैण्ड से नियुक्त होकर आता था और भारतवर्ष का शासन-अपने हाथ में लेता था, उसी प्रकार यह स्वप्न भी यमलोक से हमारे शरीर का अधिष्ठाता बन कर आता है। स्वप्नावस्था में हम इतने एकाग्र होते हैं कि, हमारे शरीर के सब अवयव इस स्वप्न के अधीन कार्य कर रहे होते हैं। हम कोई भी ऐन्द्रियिक कार्य करें उस में यह आवश्यक नहीं कि हमारे जीवनीय अंग Vital Organs हमारा उस कार्य में साथ दे रहे हों परन्तु स्वप्न एक ऐसी शक्ति है कि ये जीवनीय तत्व भी स्वप्न की आज्ञा सुनने के लिये अन्य सारे शरीर के साथ बद्धाञ्जलि हो खड़े हो जाते हैं।

और स्वप्न की आज्ञा में इन जीवनीय अंगों के कार्यों में न्यूनता या बिल्कुल रुक जाना भी हो सकता है।

शायद इसी लिये स्वप्नावस्था की अन्तिम अवस्था सम्प्रज्ञात समाधि में बैठा हुआ व्यक्ति बहुत दीर्घ काल तक विना कुछ खाए पिए रह सकता है। क्योंकि उसे भूख नहीं लगती। और भूख न लगने का कारण यह प्रतीत होता है कि, उन अंगों ने कार्य करना बन्द किया हुआ होता है। इस लिये स्वप्न हमारे शरीर का बहुत बड़ा अधिष्ठाता है। जीवात्मा के समकक्ष नहीं तो उसके बाद तो अवश्य है। इसी भाव को बताने के लिये मन्त्र में कहा कि, "एकाकिना सरथं यासि" अर्थात् स्वप्न जीवात्मा-वाले रथ पर अकेला होकर चलता है। 'सरथ' शब्द से यह भाव टपक रहा है कि, इस शरीर रूपी रथ का स्वामी कोई और भी है, और वह जीवात्मा है। परन्तु स्वप्न के एकाकी चलने का भाव यह है कि, जिस समय स्वप्न प्रबल होता है उस समय हमारे शरीर पर एक प्रकार से जीवात्मा का अधिकार जाता रहता है।

अगले मन्त्र में स्वप्न के प्रकट होने का तरीका बताया गया है। हमारी चेतना के जो ये दो गुण हैं कि, प्रकृति का अव-लोकन करना और फिर उसको अपने अन्दर रख लेना। ये दोनों गुण 'बन्धः' और 'विश्वचयाः' विशेषणों से प्रकट हो रहे हैं। वैदिक सिद्धान्त के आधार पर जीवात्मा अनादि और अनन्त है। प्रकृति का अवलोकन वह अनादि काल से करता आ रहा है। उस की अनादि काल से अनुभूत घटनाएं उसकी चेतना के

आता हो। स्वप्न को अधिष्ठाता बनाने वाला यह यमलोक हमारे शरीर में ही कोई स्थान होना चाहिए। उपर्युक्त मन्त्र से भी यही भाव स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि यमलोक हमारे शरीर में ही कोई विशेष स्थान है।

अब हम शरीर में विद्यमान यमलोक के स्पष्टीकरण के लिए एक और मन्त्र पर विचार करते हैं।

ऋ. १।३५।६ में एक मन्त्र आता है, जो कि इस प्रकार है

तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्थां एका यमस्य भुवने विराषाट्।
आणिं न रथ्यममृताधितस्थुरिह ब्रवीतु य उ तच्चिकेतत्।

अर्थात् सविता के तीन द्युलोक हैं, दो तो समीप में स्थित हैं, और उन में से एक यम के भुवन में विराजमान है। जिस प्रकार (रथ्यं) रथ के सब अवयव (आणिं) अक्षके दोनों ओर विद्यमान कील के ऊपर आश्रित हैं, उसी प्रकार अमृत रूप सब इन्द्रियादि देव उन द्युलोकों पर आश्रित हैं। जो तत्ववेत्ता, इन बातों को जानता हो, वह हमें बतावे।

इस उपर्युक्त मन्त्र में सविता के तीन द्युलोक बताये गए हैं अर्थात् ये तीन द्युलोक सविता के निवास-स्थान हैं। सविता का काम प्रेरणा करने का है। जैसा कि शत. १।१।२।१७ में आता है कि 'सविता वै देवानां प्रसविता' अर्थात् सविता देवताओं का प्रेरक है। इस ब्रह्माण्ड में प्रेरणा का स्थान द्युलोक है, परन्तु हमारे शरीर में प्रेरणा का स्थान मस्तिष्क है, अर्थात् सम्पूर्ण

शरीर की गतिविधियों का नियन्त्रण तथा प्रेरणा आदि मस्तिष्क से ही होती है। इसलिये वैदिक भाषा में मस्तिष्क को सविता का स्थान कहा जा सकता है। इस मस्तिष्क को द्युलोक तो वेद में अनेकों स्थलों पर कहा गया है। इस मन्त्र में इस मस्तिष्क रूपी सविता के लोक को तीन द्युलोकों में विभक्त किया गया है। अर्थात् मस्तिष्करूपी द्युलोक के तीन विभाग बताये गये हैं। ये तीन विभाग इस प्रकार हो सकते हैं। एक तो मस्तिष्क (Cerebrum) दूसरा अनुमस्तिष्क (Pons और Cerebellum) और तीसरा सुषुम्णाशीर्षक (Madulla oblongata) इस तीसरे द्युलोक के लिये मन्त्र में कहा गया है कि, यह यम के भुवन में विराजमान है। यह तीसरा द्युलोक अर्थात् सुषुम्णा-शीर्षक गर्दन के पिछले हिस्से में है, । इस लिये आपाततः गर्दन का पिछला हिस्सा यम का भुवन कहलायेगा । और फिर अथर्व. ६।७।१ में विराट् शरीर का वर्णन करते हुए लिखा है कि 'अग्निर्ललाटं यमः कृकाटम्' अर्थात् अग्नि ललाट है और यम कृकाट है। कृकाट गर्दन के पिछले हिस्से को कहते हैं। वाच-स्पत्याभिधानकोषने कृकाट का अर्थ घाटा किया है। और वाच-स्पत्य, शब्दकल्पद्रुम, आपटे, विलियम मौनियर आदि सबने कृकाट व घाटा का अर्थ गर्दन का पिछला हिस्सा किया है, इस से यह स्पष्ट है कि, हमारे शरीर में यम का निवास गर्दन के पिछले हिस्से में है। इस लिये यही गर्दन का पिछला हिस्सा यमलोक व यमभुवन हो सकता है।

अब विचारणीय यह है कि, इस गर्दन के पिछले हिस्से अर्थात् यम के लोक में सविता का तीसरा द्युलोक कौनसा हो

सकता है ? अन्य दोनों मस्तिष्कों की तरह प्रेरणा व नियत्रण आदि का काम गर्दन में सुषुम्णाशीर्षक (Madulla oblongata) का है। इस लिये यह सुषुम्णाशीर्षक सविता का तीसरा द्युलोक हुवा। ब्रह्माण्ड में जो कार्य द्युलोक का है, वही कार्य हमारे शरीर में इन तीनों द्युलोकों का है। सुषुम्णाशीर्षक हमारे शरीर में श्वास प्रश्वास-संस्थान (Respiratory system) रक्त संस्थान (Circulating system) और नाड़ी संस्थान (Nervous system) अन्नपाचन, हृदय आदि आन्तरिक गति विधियों को प्रेरणा देता है और इन पर यही नियन्त्रण रखता है, या यह भी कह सकते हैं कि इन जीवनीय अंग (Vital organs) का केन्द्र सुषुम्णाशीर्षक में है। इस लिये यह सुषुम्णाशीर्षक सविता का तीसरा द्युलोक है और यह यम के साम्राज्य में है।

अब स्वप्न के प्रकरण में जो यह कहा कि 'हे स्वप्न! तू यमलोक से अधिष्ठित होकर आया है।' इसका भाव यह है कि सुप्तावस्था में बुद्धि व इन्द्रियादिकों के कार्य तो बन्द हो जाते हैं, परन्तु सुषुम्णाशीर्षक से सम्बन्ध रखने वाले आन्तरिक कार्य होते रहते हैं। एक प्रकार से हम यह कह सकते हैं कि सुप्तावस्था में सुषुम्णाशीर्षक ही सारे शरीर का स्वामी होता है। परन्तु स्वप्नावस्था में स्वप्न इस सुषुम्णाशीर्षक का स्थान ले लेता है। सारे शरीर की सुप्तावस्था की गतिविधियां सुषुम्णाशीर्षक के स्थान पर स्वप्न के अधीन हो जाती हैं। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो स्वप्न में होता भी यही है। भय का स्वप्न हो तो श्वास

प्रश्वास आदि आन्तरिक क्रियाएं भय के अनुसार ही गतिविधि करती हैं। और यदि आनन्द का स्वप्न हो तो शरीर की सारी क्रियाएं भी उसी के अनुसार अपना कार्य करती हैं। इस प्रकार स्वप्नावस्था में सुषुम्णाशीर्षक के स्थान पर यह स्वप्न यमलोक से हमारे शरीर का अधिष्ठाता बनकर आता है। इसी बात को मन्त्र में इस प्रकार कहा कि 'हे स्वप्न! तू (यमस्य लोकादध्या बभूविथ) यमलोक से अधिष्ठाता होकर आया है। आगे कहा कि—'प्रमदा मर्त्यान् प्रयुनक्षि' अर्थात् 'स्वप्न बड़े आनन्द से मनुष्यों को अपने व्यापार में लगाए रखता है।' सुख के प्रसंग में तो मनुष्य नाना भांति की उड़ाने लिया ही करता है, परन्तु दुःख प्रसंग के आने पर भी उस से मुक्त होने की कल्पना करके आनन्द के बड़े २ स्वप्नजाल रच डालता है। कहने का भाव यह है कि सुख व दुःख का कैसा ही प्रसंग क्यों न हो, मनुष्य जाग्रत् स्वप्न तो आनन्द के ही लेता है। रात्रि स्वप्न में मनुष्य स्वप्न के बहुत ही अधिक अधीन होता है, इस लिये भी वह मनुष्य स्वप्न से अपना पिंड नहीं छुड़ा सकता।

इसी भाव को दर्शाने के लिये मन्त्र में स्वप्न को "घोरः" ढीठ कहा है। अर्थात् बार बार हटाये जाने पर भी वह हिम्मत नहीं हारता। आगे कहा कि "एकाकिना सरथं यासि" अर्थात् जीवात्मा वाले रथ पर एकाकी होकर चलता है। हमारे शरीर में स्वप्नावस्था में स्वप्न की वही स्थिति होती है जो कि जागृतावस्था में जीवात्मा की होती है। जागृतावस्था में इस शरीररूपी रथ पर जीवात्मा स्वामी बन कर विराजमान होता है, तो स्वप्नावस्था में स्वप्न इसका स्वामी बना होता है। आगे स्वप्न को "विद्वान्"

कहा गया है। अर्थात् वह सब कुछ जानता है। बुद्धि, तर्क व समालोचना आदि का स्वप्न के ऊपर कोई प्रभाव नहीं। स्वप्न-समय स्वप्नगत बातें सब सत्य होती हैं। आगे कहा कि "असुरस्य योनौ स्वप्नं मिमानः" आसुरी भावों के उत्पत्तिस्थान मन में वह स्वप्न का निर्माण करता है

अगला मन्त्र इस प्रकार है—

बन्धस्त्वाग्रे विश्वचया अपश्यत् पुरा रात्र्या जनितोरेके अह्नि।
ततः स्वप्नेदमध्याबभूथ भिषग्भ्यो रूपमपगूहमानः।
(अ. १९।५६।२)

अर्थात 'हेस्वप्न ! (अग्रे) पहले कभी (बन्धः) सब को अपने में बांधने वाले अथवा बन्धन के कारण भूत (विश्वचयाः) विश्व का संचय करने वाले मन ने (रात्र्याः पुरा) रात्रि से पहले अथवा (जनितोःपुरा) हमारे इस जन्म से पहले (एके-अह्नि) किसी दिन तुझको (अपश्यत) देखा था [घटना रूप में अनुभव किया था] हे स्वप्न ! (भिषग्भ्यः) भिषगों से (रूपमप-गूहमानः) अपने रूप को छिपाते हुए तूने (ततः) उस यम-लोक से (इदमध्याबभूविथ) इस शरीर व मन का अधिष्ठातृत्व ले लिया है।

इस मन्त्र में मन को 'बन्धः' और 'विश्वचयाः' कहा गया है। मन को 'बन्धः' नाम से याद करने का भाव यह है कि जिस विचार या इच्छा को मन प्रबल रूप से बांधता है, वही स्वप्न में प्रकट होता है। दूसरा इस का भाव यह है कि, जन्म-मरण

के बन्धन में मन ही कारण होता है। जैसा कहा भी है, 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः अर्थात्-बन्ध और मोक्ष में मनुष्य का मन कारण होता है। मन का अगला विशेषण 'विश्व-चया:, है, अर्थात् मन विश्व का सञ्चय करता है। *इस ब्रह्माण्ड में जिस पदार्थ आदि को वह देखता है, उस का सञ्चय कर लेता है। इस लिये मन को हम विश्वकोष कह सकते हैं। इस विश्वकोष में से समय २ पर परिस्थिति के अनुसार अवसर पाकर पुरातन जन्मों की या इस जन्म की घटनाएं स्वप्न में प्रकट होती रहती हैं। इन दोनों विशेषणों का एक सामूहिक अर्थ यह भी हो सकता है कि, मन विश्व को सञ्चय करके अपने अन्दर बांध लेता है। इस से यह ध्वनि निकलती है कि, जो बात स्मृति-पटल पर नहीं रहती, वह विनष्ट हो गई हो, यह बात नहीं है वह हमारे अन्दर रहती अवश्य है, परन्तु मन के किसी गुह्य स्तरपर संस्कार-रूप में रहती है

आधुनिक मनोवैज्ञानिक या मनोविश्लेषणकर्ता स्वप्न का कारण यह मानते हैं कि, हमारी कई इच्छाएं पूर्ण न होने की अवस्था में अव्यक्त- मानस के स्तर में (Subconscious self) जा विराजती हैं। और वहां से फिर वे स्वप्न में अवसर पाकर प्रकट होती हैं। यह (Subconscious self) चेतना का एक स्वरूप है। एक प्रकार से यह संस्कारों व अपूर्ण इच्छाओं का कोष है। यह कोष इन संस्कारों को अपने अन्दर बांधे रखता है। इस लिये मन्त्र में इस चेतना को 'बन्धः' बांधने वाली कहा है। इस चेतना के अलौकिक गुण को दिखाने के लिये इसे 'विश्व-चया:' कहा है। अर्थात् इस में विश्व का सञ्चय है। वैदिक दृष्टि

से यह एक मन का गुण है जो कि, शिव संकल्प वाले मन्त्रों की व्याख्या करते हुए हम दर्शा चुके हैं।

आगे मन्त्रार्ध से यह भाव टपकता है कि, वे दुष्ट इच्छाएं स्वप्न में प्रकट नहीं होती जिनका कि मानसिक रोगों के चिकित्सक ने इलाज कर दिया है। जो दुष्ट इच्छाएं वैद्य से न पकड़ी जा सकीं वे ही स्वप्न में प्रकट होती हैं। दूसरे इस मन्त्र से वेद यह बताता है कि, राष्ट्र की तरफ से मानसिक चिकित्सालय (Mental Hospitals) होने चाहियें जो कि मनुष्यों के बुरे विचारों, दुष्ट इच्छाओं तथा दुष्वप्न्यादियों को दूर करते हों। मन्त्र में निर्दिष्ट भिषग् अथर्ववेद के १६ वें काण्ड के ७८ सूक्तों में दर्शाये गये हैं।

अगले मन्त्र में अच्छे स्वप्न का वर्णन किया गया है, वह इस प्रकार है।

बृहद्गावासुरेभ्योऽधि देवानुपावर्तत महिमानमिच्छन्।
तस्मै स्वप्नाय दधुराधिपत्यं त्रयस्त्रिंशासः स्वरानशानाः॥
(अथर्व० १६ । ५६ । ३)

"(बृहद्गावा) महान् गतिवाला यह स्वप्न [महिमानमिच्छन्) अपनी महिमा को चाहता हुआ (असुरेभ्योऽधि) असुरों वा आसुरी भावों के अधिष्ठातृत्व को छोड़कर (देवान् उपावर्तत) देवों व दिव्य भावों को प्राप्त हुआ, (तस्मैस्वप्नाय) ऐसे उस स्वप्न के लिए (स्वरानशानाः) सुख व दिव्य प्रकाश को प्राप्त करते हुए (त्रयस्त्रिंशासः) तैंतीस देवताओं ने (आधिपत्यं दधुः) अपना अधिपति उसे बनाया अथवा आधिपत्य उसे सौंपा।"

इस मन्त्र के पूर्वार्ध की व्याख्या पहले भी की जा चुकी है। यह मन्त्र अच्छे स्वप्न का वर्णन कर रहा है। इस मन्त्र में स्वप्न को महान् गतिवाला तथा महिमा चाहने वाला बताया गया है। महिमा अर्थात् महत्वाकांक्षा मनुष्य में महान् गति को पैदा करती है। महत्वाकांक्षा की पूर्ति में मनुष्य कभी भी अकर्मण्य नहीं रह सकता। और मनुष्य में दिव्यता के पदार्पण से ही महत्वाकांक्षा पैदा होती है। आगे मन्त्रार्ध में कहा कि, ३३ देवताओं ने अपना आधिपत्य स्वप्न को सौंप दिया। ये ३३ देवता सम्भवतः शरीरान्तर्गत (१० इन्द्रियां + १० प्राण + ४ अन्तःकरण + ६ गोलक) इद्रियां आदि शक्तियां हों।

ये इंद्रियादि देवता सामान्य मनुष्य पर अपना आधिपत्य रखती हैं। इनकी इच्छापूर्ति क लिये मनुष्य बुरे बुरे स्वप्न लेता है। परन्तु जब मनुष्य में दिव्यता पैदा होती है, और दुःस्वप्नों का स्थान भद्र स्वप्न ले लेते हैं, तब इन्द्रियादि मानवीय शक्तियां दिव्य विचारों के पीछे पीछे चलती हैं, असुरों को छोड़ कर देवों का आधिपत्य स्वीकार करती हैं। और दिव्य विचारों के पीछे चलकर ये मानवीय ३३ शक्तियां स्वयं अर्थात् दिव्य प्रकाश, दिव्य आनन्द का उपभोग करती हैं।

नैतां विदुः पितरो नोत देवाः येषां जल्पिश्चरति अन्तरेदम्।
त्रिते स्वप्नमदधुराप्त्ये नर आदित्यासो वरुणेनानुशिष्टाः ॥
(अथर्व० १६ । ५६ । ४)

"(इदं अन्तः) इस शरीर के अन्दर (स्वप्न समय में) (येषां) जिनका (जल्पिः) परस्पर वार्तालाप (चरति) हो रहा

होता है, (एताम्) उस वार्तालाप को (पितरः उत देवाः न विदुः) हमारे शरीरान्तर्गत पितर और देव नहीं जान रहे होते। (वरुणेन अनुशिष्टाः) वरुणसे आज्ञा दिये गये (नरः आदित्यासः) नेता आदित्य उस (स्वप्नं) स्वप्न को (त्रिते आप्त्ये अदधुः) त्रित आप्त्य में आधान करतेहैं।"

इस मन्त्र का भाव निम्न प्रकार प्रतीत होता है–

स्वप्न के समय हमारे अन्दर जो एक वार्तालाप चल रहा होता है, नई नई स्कीमें बन रही होती हैं, इन वार्तालापों का करने वाले, नई नई स्कीमें बनाने वाले कौन हैं ? इनको हमारे शरीर में विद्यमान देव और पितर नहीं जान रहे होते। शरीर के देव और पितर कौन हैं ? यह एक बहुत गम्भीर विषय है। शरीर में इनका परिगणन, नाम, स्थान व कार्यनिर्देश आदि तो फिर कभी आपके सामने रक्खा जायेगा। अब संक्षेप में केवल इतना ही कहना है कि शरीर को हम दो विभागों में विभक्त कर सकते हैं। एक तो देव दूसरे पितर। दिव्यता, प्रकाश, ज्ञानोपार्जन नेतृत्व आदि कार्य का जिनके साथ सम्बन्ध है, वे देव कहलाते हैं और शरीर का स्थिर रखना, पालन, पोषण करना उत्पत्ति, अपचय उपचय आदि का जिनके साथ सम्बन्ध है, वे पितर कहला सकते हैं। इस आधार पर शरीर में बुद्धि व इन्द्रियादि देव कहे जा सकते हैं। परन्तु शरीर में पितर कौन से हैं ? इस सम्बन्ध में हम संक्षेप में अपने विचार रखते हैं।

सामान्य लौकिक जगत् में पितृलोक यमलोक के आधीन माना जाता है। शत. १३।४।३।६ में भी कहा है कि–

" यमो वैवस्वतो राजेत्याह तस्य पितरो विशः "

अर्थात् विवस्वान् यमराज है और पितर उसकी प्रजाएँ हैं।

शरीर में यम का एक स्थान कृकाट (गर्दन) हम देख चुके हैं। इस प्रकार कृकाट (गर्दन) आदि यम स्थानों के अधीन शरीर की जितनी शक्तियां पालन पोषण आदि का कार्य कर रहीं हैं, वे सब पितर कहला सकती हैं। शरीर में वे कौन कौनसी शक्तियां हैं, जो पितर कहला सकती हैं, यह तो आपके सामने फिर कभी रखा जायेगा। उदहरण के रूप में कुछ संकेत किये देते हैं। जिस प्रकार मानव-समाज की क्षत्रशक्ति और वैश्य शक्तिको शत. ७ १।१।४ में " क्षत्रं वै यमो विशः पितरः " इस प्रकार यम और पितर में विभक्त किया है। इसी प्रकार मानवीय शरीर के विभाग किये जा सकते हैं। इस आधार पर हमारा उदर वैश्य है और वह पितरस्थानीय है। उदर में जो आमाशय (stomach) क्षुद्रान्त्र (Small Intestine) बृहदन्त्र (Large Intestine), ग्रहणी (Duodenum) यकृत् (Liver) अग्न्याशय (Pancreas) आदि शक्तियां भोजन का रसादि में परिवर्तित कर देती हैं, ये सब हमारे शरीर में विद्यमान पितर हैं। उदर में अपने आसनों पर विराजमान हुए हुए पितृयज्ञ कर रहे हैं।

इनके सम्बन्ध में ब्राह्मणग्रन्थों में कहा है कि, " ऊष्मभागा हि पितरः " (तै. १।३।१०।६) अर्थात् शरीर का जो अग्न्याशय आदि उष्मभाग है, वह पितर कहलाता है, इसी प्रकार " हरणभागा हि पितरः " (तै. १ ३।१०।७) अर्थात रसादि को हरण करने वाले रसाङ्कुरिकायें (Villi) आदि भी पितर हैं, और " ह्लीका हि पितरः " (तै. १।३।१०।६) अर्थात् संकोच विकासवाले

अवयव पितर हैं। जब भोजन अन्दर आमाशय में आता है, तब उस में संकोच-विकास प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। अथवा जब भोजन आमाशय में आता है, तब वह विकसित हो जाता है और जब वह आमाशय से बाहिर आ जाता है, तब वह सकुचित हो जाता है। "ह्वीका" शब्द का धात्वर्थ के आधार पर जो लज्जा-शीलता अर्थ है, उस के लज्जाशीलता में भी यही संकोच और विकास प्रक्रिया हो रही होती है। शर्मीले चेहरे पर यह सकोच-प्रक्रिया स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। और फिर यजु. ८।३२ में भी कहा है कि "नमो वः पितरो रसाय नमो वः पितरः शोषाय०" अर्थात् 'हे पितरो! तुम्हारा रस बनाने और उस का शोषण कर लेने की प्रक्रिया के लिए नमस्कार हो।,

अगले मन्त्र में कहा कि, "ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम् स्वधा स्थ तर्पयत मे पितॄन्।" अर्थात् अमृत घृत, पय, कीलाल से युक्त तथा ऊर्जवाली स्वधा है, वह मेरे पितरों को तृप्त करें।,

आगे ब्राह्मण ग्रंथो में जो इन पितरों की दिशा के सम्बन्ध में क्या कहा है, इस पर विचार कर लेना चहिए। वैसे तो "अवान्तरदिशो वै पितरः" पितरों की अवान्तर दिशाएं हैं। ऐसे ही दिशा के सम्बन्ध में और भी बहुत कुछ कहा गया है। विस्तार से तो इनके सम्बन्ध में हम फिर लिखेंगे। परन्तु पितरों की जो मुख्य दिशा दक्षिण दिशा बतायी गई है, उस पर कुछ विचार करते हैं। षड्विंश ब्राह्मण ३।१ में कहा है कि, "पितॄणां वा एषा दिग् दक्षिणा" अर्थात यह दक्षिण दिशा

पितरों की दिशा है। इसका क्या भव है? इसको तै. १।६।८।५ में स्पष्ट कर दिया है वहां आता है कि "दक्षिणावृद्धि पितॄणाम्" अर्थात पितरों का दक्षिण की ओर को झुकाव है, प्रवाह है। श. १३।७।२।७ में भी ऐसा ही कहा है कि, दक्षिणाप्रवणो हि पितृलोकः" पितृलोक का दक्षिण की ओर को झुकाव है। अब शरीर में उपर्युक्त उदर के अंगों पर विचार कीजिये। प्रायः सम्पूर्ण अंग शरीर के दक्षिण में है और सबका प्रवाह दक्षिण की ओर को है।

इसी प्रकार प्रजोत्पत्ति करने वाले अवयवों का परिगणन भी पितरों में समझना चाहिए! लोक में जो यह बात प्रसिद्ध है कि, ब्राह्मणों को खिलाने से वह भोजन पितरों के पास पहुँच जाता है, पता नहीं, वह पहुँचता है कि नहीं पहुँचता। परन्तु इस शरीर के क्षेत्र में मुखरूपी ब्राह्मण द्वारा खिलाया हुआ भोजन पितरां के पास ता अवश्य पहुंच जाता है। हमारे शरीर में उदर के लिये ही पिण्डोदक-क्रिया संभव है। पिण्डोदक का ग्रहण शरीर में उदर ही करता है। इस प्रकार शरीरान्तर्गत पितरों के सम्बन्ध में हमने कुछ विचार करने का प्रयत्न किया। इनका विस्तृत विवेचन फिर कभी आपके सामने रखा जायगा।

शरीर की इन दोनों देवशक्ति व पितृशक्ति के कारण ही मनुष्य को स्वप्न आया करते हैं। इन शक्तियों की न्यूनता व निकृष्टता में बुरे स्वप्न आते हैं और स्वस्थता तथा श्रेष्ठता में भद्र स्वप्न आते हैं। मन्त्र कहता है कि, स्वप्नगत वार्तालाप को शरीर की ये दोनों शक्तियां नहीं जान रही होतीं।

आगे मन्त्रार्ध में यह कहा गया है कि वरुण से अनुशिष्ट अर्थात् आज्ञा पाये हुए आदित्य स्वप्न को त्रित आप्त्य में आधान कराते हैं। राष्ट्र-पक्ष में वरुण पापियों तथा दुष्टों को पकड़ने वाला है। आदित्य (ऋतावानः ऋतजाता ऋतावृधः) ऋत वाले, ऋत में पैदा हुए और ऋत में बढ़ने वाले या ऋत को बढ़ाने वाले हैं। आदित्य ऋत अर्थात प्रकृति में विचरते हैं, नये नये ज्ञान का अन्वेषण करते हैं। और त्रित आप्त्य का यहां पर भाव यह है कि, तीनों लोकों में व्याप्त होता हुआ भी वह परमात्मा आप्त पुरुषों में ही प्रकट होता है। अथवा दूसरा अर्थ यह है कि, मेधा में तीर्णतम तथा आप्त पुरुषों की श्रेणी में गिना जाने वाला श्रेष्ठ मनुष्य। इस आधार पर मन्त्र का भाव यह हुआ कि, वरुण दुष्वप्न्य लेने वालों को पकड़ता है, और सब प्रकार की प्रकृति का अन्वेषण करने वाले आदित्यों को आज्ञा देता है कि, 'तुम इस स्वप्न लेने वाले व्यक्ति के स्वप्न को त्रित आप्त्य परमात्मा में आधान करा दो।' अर्थात् वह व्यक्ति सदा परमात्मा के ही स्वप्न लिया करे। अथवा इस मनुष्य में वह लगन पैदा कर दो जिस से कि, वह अपने को मेधा में सर्वश्रेष्ठ बनने तथा आप्त पुरुषों की श्रेणी में आने के लिये स्वप्न लेने लगे।

इस मन्त्र में भी यह बताया गया है कि, मनुष्य की स्वप्नावस्था को नहीं बदलना। परन्तु उसकी दिशा बदलनी है। किसी मनुष्य की प्रकृति को बदलना बहुत कठिन है। यदि इस में कुछ परिवर्तन भी किया जा सकता है, तो प्रकृति में विचरने वाले आदित्य व्यक्ति ही कर सकते हैं, और वे भी बुरी सामग्री के स्थान पर अच्छी सामग्री लाकर रखते हैं। शरीर के क्षेत्र में

वरुण सदसद्विवेकबुद्धि (Conscience) को भी कह सकते हैं। यह बुद्धि दुष्वप्न्यों को पकड़ कर आदित्यरूपी दिव्य भावों को यह आज्ञा देती है कि, मनुष्य के स्वप्न को त्रित आप्त्य में आधान करो।

यस्य क्रूरमभजन्त दुष्कृतोऽस्वप्नेन सुकृतः पुण्यमायुः। स्वर्मदसि परमेण बन्धुना तप्यमानस्य मनसोऽधि जज्ञिषे॥

(अ. १६।५६।५)

"(दुष्कृतः) दुष्कर्म करने वाले पापी लोग (यस्य क्रूरमभजन्त) जिस स्वप्न की क्रूरता अथवा उस के क्रूर फल का सेवन करते हैं। (सुकृतः) उत्तम कर्म करने वाले पुण्यशाली लोग (अस्वप्नेन) स्वप्न-विनाश के द्वारा (पुण्यमायुः) पुण्य को प्राप्त करते हैं।"

[ज्ञानी पुरुषों में] हे श्रेष्ठ स्वप्न! तू (तप्यमानस्य मनसः) तप्यमान मन से (अधिजज्ञिषे) पैदा होता है। और (परमेण बन्धुना) अपने उच्च कोटि के बन्धुत्व के गुण से (स्वः मदसि) दिव्य आनन्द व दिव्य प्रकाश को प्रफुल्लित व विकसित करता है।

[दुष्ट पुरुषों में] हे दुष्वप्न! तू (तप्यमानस्य मनसः) राग-द्वेषादि द्वारा सन्तप्त मन से (अधिजज्ञिषे) पैदा होता है और (परमेण बन्धुना) अपने सब से बड़े बन्धन-गुण से (स्वः मदसि) स्व को मलिन कर देता है।

इस उपर्युक्त मन्त्र में मनुष्य की दो तीन अवस्थाओं

की ओर निर्देश किया गया है। एक तो दुष्ट कर्म करने वाले मनुष्य हैं, जो कि दुष्ट कर्म करने के कारण भयंकर २ स्वप्नों तथा उनके दुष्परिणामों को प्राप्त करते हैं। दूसरे उत्तम कर्म करने वाले पुण्यशाली (कर्मयोगी) मनुष्य हैं जो कि स्वप्नावस्था से नितान्त दूर हैं। तीसरे वे ज्ञानी मनुष्य हैं जो कि स्वप्नावस्था द्वारा दिव्य ज्ञान का आविर्भाव करते हैं। चौथे वे साधारण मनुष्य हैं जो कि रातदिन रागद्वेषादि में पड़े रहने के कारण बुरे २ स्वप्नों में ही विचरते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त मन्त्र में दो प्रकार की स्वप्नावस्था बतायी है, एक भद्र दूसरी अभद्र। भद्र स्वप्नावस्था से ज्ञान की वृद्धि होती है और अभद्र अवस्था से ज्ञान मलिन होता है और विनष्ट होता है।

विद्म ते सर्वाः परिजाः पुरस्ताद् विद्म स्वप्न यो अधिपा इहा ते।
यशस्विनो नो यशसेह पाह्याराद् द्विषेभिरप याहि दूरम्।
अथर्व १६।५६।६)

"हे स्वप्न! हम (ते तेरे (सर्वाः परिजाः) सब परिणामों को (पुरस्ताद्) पहले ही (विद्म) जानते हैं। और हे स्वप्न! (इह ते यः अधिपाः) जो तेरा अधिपति है, उसको भी हम (विद्म) जानते हैं। हे श्रेष्ठ स्वप्न! (इह) इस संसार में (नः यशस्विनः) हम यशस्वियों की तू (यशसा पाहि) यश के द्वारा रक्षा कर। और (द्विषेभिः) जो हमारे शत्रु हैं उन से तू (आराद् दूरं अप याहि) दूर से भी दूर चला जा।"

इस मन्त्र के पूर्वार्ध में अच्छे व बुरे दोनों प्रकार के स्वप्नों के सम्बन्ध में कहा गया है। और उत्तरार्ध में अच्छे स्वप्न का वर्णन किया गया है। मन्त्र के पूर्वार्ध में "पुरस्तात्" शब्द से यह निर्देश किया गया है कि, स्वप्न चाहे भद्र हो या अभद्र हो, उस के अधिपति अर्थात् पूर्ववर्ती कारणों और उन के परिणामों का पहले ही मनुष्य को ज्ञान होना चाहिए। प्रत्येक माता पिता व आचार्य आदि का यह कर्तव्य है कि, वे बच्चे को प्रारम्भ से ही ऐसी शिक्षा देवें, जिससे बच्चे को कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान हो वह अच्छे व बुरे में विवेक कर सके। यदि किसी न्यूनता के कारण बुरे स्वप्न प्रविष्ट भी हो जायं, तो उसे यह ज्ञान होना चाहिए कि, इन बुरे स्वप्नों के अधिपति कौन हैं ? इस प्रकार वह पहले तो बुरे स्वप्नों में फंसेगा ही नहीं और यदि किसी कारण वह बुरे स्वप्नों में फंस ही जाय, तो अधिपति अर्थात् पूर्ववती कारणों को अपने में से दूर करके आसानी से दुष्वप्न्यों से दूर हो सकता है। आगे उत्तरार्ध में यह कहा कि, हमें सदा ऐसे स्वप्न लेने चाहियें, जिस से हमारा यश हो।

अ. ६।४६।१ में स्वप्न को उत्पत्ति, स्वरूप तथा माता पिता के सम्बन्ध में कुछ और भी निर्देश मिलता है। मन्त्र इस प्रकार है —

यो न जीवोऽसि न मृतो देवानाममृतगर्भोऽसि

स्वप्न । वरुणानी ते माता यमः पितारुर्नामासि।

'हे स्वप्न ! तू न तो जीवित है और न ही मृत है। और देव अर्थात् इन्द्रियों का तू कभी न मरने वाला गर्भ है। वरुणानी तेरी माता है और यम तेरा पिता है, और तू अररु नाम वाला है।

उपर्युक्त मन्त्र में स्वप्न के स्वरूप तथा उस की उत्पत्ति आदि का वर्णन बहुत ही गूढ़ शब्दों द्वारा किया गया है। मन्त्र में कहा है कि हे स्वप्न ! तू न तो जीवित है और न ही मृत है। दुनियां में हम देखते हैं कि अतिस्थूल से लेकर सूक्ष्म से कीटाणु तक सब चेतन प्राणी जीवन धारण करते हैं, और फिर कालान्तर में मर भी जाते हैं। जीवन और मृत्यु प्रत्येक चेतन के साथ लगी हुई है। और दूसरे चेतन प्राणी एक बार उत्पन्न होकर मृत्युपर्यन्त निरन्तर बने रहते हैं। और वे दृष्टिगोचर भी किये जा सकते हैं। परन्तु स्वप्न के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वह चेतन प्राणियों की तरह सदा जीवन धारण किये हुए नहीं दिखाई देता। और न ही दृष्टिगोचर होता है। केवल उसकी स्मृति होती है कि इस इस प्रकार का स्वप्न दिखाई दिया। इसलिए मन्त्र में कहा है कि "न जीवोऽसि" अर्थात् हे स्वप्न। तू चेतन प्राणियों की तरह जीवित नहीं है। और फिर यह भी नहीं कह सकते कि वह मर गया है, क्योंकि कुछ काल के व्यवधान के पश्चात् वह फिर अपना कार्य करता दीखता है। कई स्वप्न तो ऐसे होते हैं जिन की शृंखला अनेकों रात्रियों तक चलती है। पहली रात्रि को स्वप्न जहाँ समाप्त हुआ अगली रात्रि को फिर वहीं से शुरू हो जाता है। इस प्रकार कई स्वप्न अनेकों रात्रियों तक चलते हैं। क्योंकि दिन में वे दिखाई नहीं देते, इसलिए उनके सम्बन्ध में यह कहना कि वे मर गये यह ठीक नहीं।

इसलिए वेद मेंकहा कि 'हे स्वप्न ! तू न तो जीवित है और न मृत है।' तो फिर प्रश्न उठता है कि यदि स्वप्न न तो

जीवित हो न मृत हो तो फिर वह कैसा होगा ? इस पर वेद ने कहा कि "देवानाममृतगर्भोऽसि" अर्थात् 'हे स्वप्न ! तू देवताओं अर्थात् इन्द्रियों का अमृत-गर्भ है।' जब तक मन और इन्द्रियां विद्यमान हैं, तब तक स्वप्न भी अवश्य आते रहेंगे। इस लिये स्वप्न सदा इन्द्रियों के गर्भ में विद्यमान रहते हैं। वे मरते नहीं। और फिर स्वप्न मन की लीला होने के कारण जब तक मन अमर है, तब तक वह भी अमर रह सकते हैं। कई स्वप्न पिछले जन्म की घटनाओं से सम्बन्ध रखते हैं। उसका कारण यह है कि मन अमर है। पिछले जन्मों में मन पर पड़े संस्कार रात्रि में स्वप्न के रूप में हमारे सामने आ खड़े होते हैं। वेदने शिव-संकल्प के सूक्तों में मन की महिमा दर्शाते हुए कहा कि "ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु" (यजु) अर्थात् यह प्रजाओं के अन्दर ज्योतिरूप मन अमर है। इस लिये वेदने अलंकाररूप में कह दिया कि "देवानाममृतगर्भोऽसि" अर्थात् 'हे स्वप्न ! तू देवताओं का ऐसा गर्भ है, जो कि कभी मरता नहीं है।'

आगे चल कर मन्त्रार्ध में कहा कि "वरुणानी ते माता यमः पितारुरुर्नामासि" अर्थात् 'हे स्वप्न ! वरुणानी तेरी माता है और यम पिता है और तेरा अररु नाम है।'

वरुणानी किसे कहते हैं, यह हम अन्यत्र दर्शा चुके हैं। दुष्टों व पापी मनुष्यों में वरुण के भय के कारण जो मनोवृत्ति पैदा होती है, उसको वरुणानी नाम से कहा गया है। यह वरुणानी मनोवृत्ति दुष्वप्नों की जननी है। वरुण दुष्ट व पापी मनुष्यों को पकड़ कर यम के सुपुर्द करता है। वरुणानी से उत्पन्न जो दुष्वप्न्य हैं, वे यम अर्थात् मृत्यु के भय से और भी वृद्धि को प्राप्त

होते हैं, पलते हैं और परिपुष्ट होते हैं। इस लिये यम को दुष्वप्न्यों का पालक व पोषक होने के कारण उनका पिता कह दिया गया है। अथवा मृत्यु का भय न भी हो तो भी कैदखाने में पड़े हुए मनुष्य में आत्मिक व शारीरिक क्षीणताएं आ जाती हैं। इस लिये मनुष्य क्षीण होकर दुष्वप्न्यों का और भी शिकार बन जाता है। अपराधी मनुष्यों को मृत्यु तथा कैदखाने आदि का दण्ड देना यम का कार्य है। इस लिये यम दुष्टों में दुष्वप्न्य की वृद्धि, पुष्टि आदि करने के कारण दुष्वप्न्यों का पिता कहलाता है।

अब अन्त में स्वप्न के सम्बन्ध में मन्त्र में कहा कि 'अररुर्नामासि' अर्थात् हे स्वप्न! तेरा अररु नाम है। अररु किसे कहते हैं, यह शतपथ ब्राह्मण में अत्यन्त स्पष्ट कर दिया गया है। शत. १।२।२।१७ में आता है कि "अररुर्ह वै नामासुररक्षसमाह तं देवाः अस्याः (पृथिव्याः) अपाघ्नत।" अर्थात् अररु नाम असुर राक्षस का है। देवताओं ने उसे इस पृथ्वी से मार भगाया। अर्थात् अररु राक्षस है, हिंसक है। इस लिये यह स्वप्न अररु नाम से असुर है, राक्षस है, हिंसक है। दिव्य भावों ने इसे शरीर रूपी पृथिवी से मार भगाया।

———

षष्ठ अध्याय

दुःष्वप्न प्रतिषेध व पूर्व सावधानता

अथर्ववेद का १६ वाँ काण्ड एक प्रकार से अतिसर्जन (छोड़ना) का काण्ड है। यह काण्ड दो अनुवाकों में विभक्त किया गया है। प्रथम अनुवाक में सामान्य दोषों का विसर्जन तथा आत्मिक, मानसिक व शारीरिक शक्तियों को प्रबल बनाने का विधान किया गया है। यदि इन दोषों का परित्याग कर शरीरादि शक्तियों को प्रबल न बनाया गया तो ये दोष मनुष्य में दुष्वप्न्यादि व्याधियों की उत्पत्ति में कारण बन जायेंगे। इस लिए प्रथम अनुवाक में वर्णित दोषों का विसर्जन द्वितीय अनुवाक में वर्णित दुष्वप्न्यादि बिमारियों के लिए प्रतिषेध (prevention) के समान है। दुष्वप्न्यादि व्याधियां पैदा ही न हों, इसके लिये मनुष्य को सदा प्रतिषेध के रूप में दोषों का विनाश व शमन करते रहना चाहिए। परन्तु इन दोषों का परित्याग करते हुए भी ये इतने प्रबल होते हैं कि पूर्ण रूप से इनका शमन नहीं होता। और फिर मनुष्यों का स्वभाव भी प्रायः भोग विलास

में फंसे रहने का होता है, इस कारण ये दोष सदा बढ़ते ही रहते हैं और दुष्वप्न्यादि व्याधियों से मनुष्य सदा आक्रान्त रहता है। इस लिए द्वितीय अनुवाक में इन दुष्ट स्वप्नों का वर्णन कर इनके विनाश का विधान किया गया है। इस प्रकार प्रथम अनुवाक में बुरे स्वप्नों का प्रतिषेध व रोक है। और द्वितीय अनुवाक में बुरे स्वप्नोंका स्वरूप व उनकी चिकित्सा का वर्णन है। इसप्रकार दोनों अनुवाकों का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। इसलिए प्रथम अनुवाक पर भी कुछ संक्षिप्त विचार करलेना उचित ही है। अब हम मन्त्रों के आधार पर प्रथम अनुवाक में वर्णित दोषों के शमन व शक्ति-प्राप्ति के स्वरूप को दिखाते हैं जिससे दुष्वप्नों के आक्रमण होने से पूर्व ही अपने दुर्ग को दृढ़ बना सकें।

मनुष्य की आत्मा मन व शरीरादि को शक्तिशाली बनाने के लिए सबसे पहले यह आवश्यक है कि, मनुष्य में जो दोष पहले से ही विद्यमान हों, उनको दूर किया जाये। इसलिए सबसे पहले उनके शमन के लिए प्रथम सूक्त में जल के उपयोग का विधान किया गया है। प्रथम मन्त्र में आता है कि भगवान् ने सब प्राणियों के उपकार के लिए ऊपर से मेघरूप में जल का अतिसर्जन किया है। और सूर्यरूपी अग्निपुञ्ज से नीचे की ओर दिव्य अग्नियां प्रवाहित की हैं, जो कि सब प्रकार के दोषों का शमन करके आत्मा व शरीरादि को परिपुष्ट करती रहती हैं। इसलिए मनुष्यों को चाहिए कि वे जल व दिव्य अग्नियों के उपयोग के द्वारा दोषों का शमन करते रहें। मन्त्र इस प्रकार है,—

अतिसृष्टो अपां वृषभोऽतिसृष्टा अग्नयो दिव्याः।
अथर्व १६।१।१

जलों को बरसाने वाली मेघ में विद्यमान अग्नि को छोड़ा गया है, और दिव्य अग्नियां छोड़ी गई हैं।

'अपां वृषभः' जल में रहने वाली अग्नि को कहते हैं। मेघ में विद्यमान जलों को यह नीचे लाती है, और जलों द्वारा सब दोषों को शमन करती है। भगवान् ने ये दोनों पदार्थ प्राणियों के उपकार के लिए दिये तो हैं, परन्तु साथ में यह भी कह दिया है कि इन दोनों के दो-दो रूप हैं! एक रूप शिव है और दूसरा घोर है। जो घोर रूप है उसे छोड़ देने के लिए कहा है। और जो शिव है उसे ग्रहण करने को कहा है। अब जलों व अग्नियों का जो घोर रूप है, उसे दिखाते हैं। वह इस प्रकार है—

रुजन् परिरुजन् मृणन् प्रमृणन्। २। म्रोको मनोहा खनो निर्दाह आत्मदूषिस्तनू दूषिः। ३। इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि।४,

अर्थात् यह घोर अग्न तोड़ फोड़ देता है, मार देता है, शरीर सम्बन्धी शक्तियों को छीनकर भाग जाने वाला, मन का हनन करने वाला, खोद डालने वाला, जलादेने वाला तथा शरीर को दूषित कर देने वाला है। अग्नि व जल के इस घोर रूप का मैं परित्याग करता हूँ, और किसी भी प्रकार से इसका पोषण नहीं करता।

इसीप्रकार अथर्व. १६।१।७,८ में भी अग्नि आदि के घोर रूप को और भी स्पष्ट किया है। वहां आता है—

योऽप्स्वग्निरति तं सृजामि म्रोकं खनिं तनूदूषिम् । ७ ।
यो व आपोऽग्निराविवेश स एष यद् वो घोरं तदेतत् ॥८॥

जलों में जो अग्नि है, जो कि ऐश्वर्य को छीन कर भाग जाने वाला, खोद डालने वाला, अर्थात् खोखला बना देने वाला तथा शरीर को दूषित कर देने वाला है, उसका मैं परित्याग करता हूँ।

हे जलो ! तुम्हारे में जो अग्नि प्रविष्ट है, उस में शिव यह है और घोर यह है।

इस प्रकार इन मन्त्रों से यह स्पष्ट है कि जलों में दो प्रकार की अग्नियां होती हैं, एक शिव रूप और दूसरी घोर रूप। इस लिये इन में जो अतिसर्जन का विधान किया है, वह इन के घोर रूप को परित्याग करने का विधान किया है। इसी प्रकार दिव्य अग्नि अर्थात् सूर्य के भी दो रूप हो सकते हैं, एक शिव रूप और दूसरा घोर रूप। उदाहरण के रूप में ऋतु सन्धियों की धूप तथा अतिवृष्टि अनावृष्टि आदि जो प्राकृतिक प्रकोप हैं वे सब इस सूर्य के कारण हैं। इस सम्बन्ध में हमें एक बात पर और विचार करना चाहिए और वह यह कि ये जल और अग्नि आन्तरिक भी हैं। मनुष्य में विद्यमान रस रक्त वीर्यादि भी शरीर व आत्मा को दूषित कर देने वाले हैं। यदि ये आन्तरिक रस आदि जलीय तत्व दूषित हो जायें तो उपर्युक्त सब दोष मनुष्य को आ घेरते हैं। इस लिये मन्त्रों में इनके घोर रूप को शमन करने का विधान किया है।

इस दृष्टि से प्रथम सूक्त में इनके दोषों को शमन करने का वर्णन है तो द्वितीय सूक्त में इन रसादियों से परिपुष्ट होने वाली

इन्द्रियों को रोग रहित व परिपुष्ट करने का विधान है।

आगे अ. १६।१।१२-१३ मन्त्रों में जल व अग्नि के शिव रूप को भी दिखाया गया है। मन्त्र इस प्रकार है--

शिवेन मा चक्षुषा पश्यतापः शिवया तन्वोपस्पृशत त्वचं मे।१२।
शिवानग्नीनप्सुषदो हवामहे मयि क्षत्रं वर्च आधत्त देवीः ॥१३॥

हे जलो! मुझे तुम कल्याणकारिणी दृष्टि से देखो और अपने कल्याणमय शरीर से मेरी त्वचा का स्पर्श करो।

हम जलों में विद्यमान शिव अग्नियों का आह्वान करते हैं। हे दिव्य जलो! मुझ में क्षत्र और वर्च धारण करो।

इस प्रकार इन मन्त्रों में जल व अग्नि के शिव रूप को बताया गया है। शिव अग्नि मनुष्य को सब प्रकार से पूर्ण करती है, तो घोर अग्नि मनुष्य का हनन करती है। घोर अग्नि मनुष्य में सांसारिक सुख तथा भोग-विलास आदि के लिये 'भड़क रही होती है

अगले द्वितीय सूक्त में आंख, कान, वाणी तथा मन आदि इन्द्रियों को श्रेष्ठ बनाने का उपदेश दिया गया है। इन्द्रियां श्रेष्ठ बनें, बलवती बनें, बहिर्मुखी न हो कर अन्तर्मुखी बनें-इत्यादि बातें इन्द्रियों के सम्बन्ध में कही गई हैं। हमारा बाह्य जगत् से सम्बन्ध इन्द्रियों द्वारा ही होता है। यदि ये इन्द्रियां श्रेष्ठ न बनीं तो बुरे २ बाह्यप्रभाव हमारे ऊपर पड़ेंगे जो कि दुष्वप्न्यादि की उत्पत्ति में कारण होंगे। यदि इन्द्रियां श्रेष्ठ हुईं, भद्र ही भद्र हमने देखा, भद्र ही सुना और भद्र ही कहा तो इस प्रकार

जब चारों ओर भद्र ही भद्र होगा तो स्वप्न भी हमें श्रेष्ठ आयेंगे।

अब हम मन्त्रों के आधार पर संक्षेप में यह देखते हैं कि इन्द्रियों को किस प्रकार का हमें बनाना चाहिये। मन्त्र इस-प्रकार है—

> निदुर्मण्य ऊर्जा मधुमती वाक्। १।
> सुश्रुतौ कर्णौ भद्रश्रुतौ कर्णौ भद्रं श्लोकं श्रूयासम्। ४।
> सुश्रुतिश्च मोपश्रुतिश्च मा हासिष्टां सौपर्णं चक्षुरजस्रं
> ज्योतिः। ५।
> ऋषीणां प्रस्तरोऽसि नमोऽस्तु दैवाय प्रस्तराय। ६।

वाणी मीठी तथा शक्ति सम्पन्न हो, और दुष्ट बातों में रमने वाली न हो।

कान उत्तम श्रवणशक्ति वाले तथा भद्र बातें सुनने वाले हों जिस से कि मैं अपनी भद्र कीर्ति सुनूं। ४।

उत्तम श्रवण शक्ति और निरन्तर ध्यान से सुनने की शक्ति ये दोनों मुझे न छोड़ें। और मेरी चक्षु उत्ताम पंखों वाली तथा निरन्तर ज्योति से युक्त रहे।

हे मन! तू ऋषि रूप इन्द्रियों का प्रस्तर अर्थात् आसन है, तुझ दिव्य आसन के लिये नमस्कार है।

इन मन्त्रों में चक्षु के उत्तम पंख कहने का भाव यह है कि वैदिक सिद्धान्त के आधार पर किसी पदार्थ को देखने की प्रक्रिया यह है कि, दृष्टिशक्ति आंख से निकल पदार्थ पर दूर जाकर

पड़ा करती है। वह उत्तम पंखों के कारण अच्छी प्रकार उड़ कर और भी दूर २ तक के पदार्थों पर पड़ेगी। इस से मनुष्य दूर २ तक के पदार्थों को भी देखने लगता है। आगे ६ ष्ठ मन्त्र में मन को ऋषिओं का आसन बताया है। और ये ऋषि इन्द्रियां हैं जो कि इस मन रूपी आसन पर विराजमान हैं। इन्द्रियों को यहांऋषि इस लिये कहा है कि सब प्रकार के दोषों व व्याधियों का विनाश होकर ये श्रेष्ठ व सूक्ष्म बातों को जानने वाली बन गई हैं। जब तक मन पर असुर विराजमान होते हैं, तब तक यह मन ऋषियों का आसन नहीं बन सकता। जब असुर इस मन रूपी आसन से हटा दिये जाते हैं, तभी ऋषि इस आसन पर आकर विराजमान होते हैं।

प्रथम सूक्त में जल व अग्नि के घोर रूप तथा उस से उत्पन्न रोगों व दुष्वप्न्य आदि दोषों को शमन व परित्याग करने का वर्णन आता है। जब सब दोष आदि शान्त होगये तब दूसरे सूक्त में एक २ इन्द्रिय को व्यष्टि रूप में निर्देश कर उसके श्रेष्ठ व शक्तिशाली होने का वर्णन आता है। अब ३,४ सूक्तों में मनुष्य को समष्टि रूप से लेकर अन्य जो ऐश्वर्य हो सकते हैं, उन सब का शिरोमणि आश्रय स्थान होनेका विधान किया है। वह इस प्रकार है—

शिरोमणि शक्तिः—

मूर्धाहं रयीणां मूर्धा समानानां भूयासम्।
अ. १६।२।१

अर्थात् मैं ऐश्वर्यों का शिरोमणि बनूं और बराबर वालों में भी मैं शिरोमणि होऊं।

वे ऐश्वर्य क्या हैं ? यह अगले मन्त्रों में बताया गया है। मन्त्रों में दो दो ऐश्वर्यों का परस्पर जोड़ा बनाया गया है। इससे यह प्रतीत होता है कि इनका परस्पर सम्बन्ध है, और ये मनुष्य को छोड़ कर न जावें ऐसी प्रार्थना की है। वे ऐश्वर्य क्या हैं इनको हम संक्षेप में रखते हैं।

रुजश्च मा वेनश्च मा हासिष्टां मूर्धाच मा विधर्मा च मा हासिष्टाम् उर्वश्च मा चमसश्च मा हासिष्टां धर्ताच मा धरुणश्च मा हासिष्टाम्। विमोकश्च मार्द्रपविश्च मा हासिष्टामार्द्रदानुश्च मा मातरिश्वा च मा हासिष्टाम्।

रुजः—दीप्ति प्रकाश
वेनः—अभीप्सा
} मनुष्य में यदि किसी वस्तु के लिये अभीप्सा व उत्कट इच्छा हो तो वह दीप्ति व प्रकाश के लिये ही होनी चाहिये।

मूर्धा—शिर व शिरोमणि
विधर्मा—विविध धारणशक्तियां
} मनुष्य को ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि धारण करने योग्य नाना शक्तियां उस में शिरोमणि बनकर रहें।

उर्वः—विस्तार
चमसः—अन्न
} मनुष्य के पास अन्नों का खूब विस्तार व भण्डार होना चाहिये।

धर्ता— धारण करने वाला
धरूणः— धारण किये जाने वाला
} जिस प्रकार पृथ्वी अग्नि को धारण कर रही है, और अग्नि पृथ्वी को।

इसी प्रकार मनुष्य धर्ता है और अन्य प्राणादि शक्तियां धरूण हैं। इस प्रकार धर्ता और धरूण का सम्बन्ध बना रहे ये एक दूसरे को छोड़ न जावें।

विमोकः—विसर्जन शक्ति
आर्द्रपविः—जलीय वज्र
} मनुष्य में अपने अन्दर से सब प्रकार के मल व व्याधियों को दूर करने की

शक्ति होनी चाहिये और इनका विसर्जन जलीय वज्र अर्थात् मूत्र, पसीने आदि द्वारा होता है।

आर्द्रदानुः—रस, रक्त, वीर्यादि जलीय-तत्वों को देने वाला अग्नि
मातरिश्वा—प्राणवायु
} मनुष्य शरीर में रस रक्तादि तत्व

अग्नि के सम्पर्क से ही परिणति या परिपाक को प्राप्त होते हैं और यह शारीरिक अग्नि भी प्राणवायु के ही कारण बनी हुई है।

इसप्रकार ये सब उपर्युक्त शक्तियां मनुष्य में हों और ये एक दूसरे की सहायक हों तो शरीर सब प्रकार से स्वस्थ रहें, बिमारी न हो और दुष्वप्न्यादि रोग भी मनुष्य को आक्रान्त

न करें। परन्तु ये सब उपर्युक्त शक्तियां मुख्यतया शरीर से सम्बन्ध रखने वाली हैं।

आत्मा के सम्बन्ध में अगले मन्त्र में कहा गया है-

बृहस्पति र्मे आत्मा नृमणा नाम हृद्यः।५।

मेरा आत्मा बृहस्पति बने अर्थात् ज्ञान विज्ञान से युक्त हो और इसका नाम (नृमणा = नृ + मना-मनु अवबोधने) नृमणा है। नृ वा नर शारीरिक शक्तियां जो कि शरीर को ले चल रही हैं। उन शारीरिक शक्तियों को यह आत्मा अवबोधन करती रहती है। अर्थात शरीर की शक्तियों को यह आत्मा जागृत करने वाली है और इसका निवास हृदय में है।

हृदय कैसा हो? यह अगले मन्त्र में कहा गया है।

असंतापं मे हृदयमुर्वी गव्यूतिः समुद्रो अस्मि विधर्मणा।

मेरे हृदय में सन्ताप न रहे, मेरे मार्ग विस्तृत हो जायें और मैं नाना धारण शक्तियों से समुद्र बन जाऊँ।

केन्द्रग-शक्तिः—

अब अगले सूक्त में, मनुष्य को सब प्रकार के ऐश्वर्यों तथा मनुष्यों का केन्द्रग शक्ति बनना चाहिए ऐसा विधान किया है।

नाभिरहं रयीणां नाभिः समानानां भूयासम्।

मैं ऐश्वर्यों का नाभि (केन्द्रग) बनूं और बराबर वालों में भी केन्द्रग शक्ति बनूं।

मूर्धा बनने के पश्चात् केन्द्रग शक्ति बनने का क्रम आता है। मूर्धा बनने में तो स्वयं बहुत परिश्रम करना पड़ता है।

परन्तु जब मनुष्य ऐश्वर्य की दृष्टि से तथा अन्य सभी गुणों से बराबर वालों में शिरोमणि बनजाये तो उसे फिर सबका केन्द्रग शक्ति भी बनना चाहिए। शिरोमणि मनुष्य स्वभावतः केन्द्रग शक्ति बनता ही है। जब मनुष्य यह समझ लेते हैं कि अमुक मनुष्य हम सबमें श्रेष्ठ है, शिरोमणि है तो उसके चारों ओर चक्कर काटते ही हैं। परन्तु यदि ऐसे शिरोमणि व्यक्ति का स्वभाव ही ऐसा खराब हो कि सब उससे डरते हों तो फिर मनुष्य उसके चारों ओर चक्कर नहीं काटते। इसलिए मनुष्य को सब का केन्द्र भी बनना चाहिए।

आगे मन्त्रों में मूर्धाशक्ति व केन्द्रगशक्ति बनने वाला व्यक्ति प्रार्थनाएँ करता है कि अमुक २ चीज मेरे अन्दर रहें मुझे छोड़कर न जावें। वह इसप्रकार हैं—

स्वासदसि सूषा अमृतो गर्त्येष्वा।

यह दिव्य उषा हमारे अन्दर आकर बैठ जाये और मरणधर्मा शारीरिक अंगों में अमृत का संचार करदे।

मा मां प्राणो हासीन्मो अपानो ऽवहाय परागात्।

मुझे प्राणशक्ति न छोड़े और अपान शक्ति भी छोड़कर न चली जावे।

दिव्य शक्तियों से रक्षा की प्रार्थना:—

सूर्यो माह्नः पात्वग्निः पृथिव्या वायुरन्तरिक्षात् यमो मनुष्येभ्यः सरस्वती पार्थिवेभ्यः।

सूर्य मेरी दिन के समय रक्षा करे वैश्वानर अग्नि पृथिवी से वायु अन्तरिक्ष से, यम मनुष्यों से तथा सरस्वती पार्थिव पदार्थों से

इन सब शक्तियोंका ज्ञान होने से मनुष्य इसके द्वारा सब प्रकार से अपनी रक्षा कर सकता है।

स्वस्त्यद्योषसो दोषसश्च सर्व आपः सर्वगयो अशीय।

आज उषाएं व सान्ध्यवेलाये कल्याणकारिणी हो जावें मैं सब प्रकार के जलों व शक्तिसमूहों को प्राप्त होऊँ

शक्करीस्थ पशवो मोपस्थेषु मित्रावरुणौ प्राणापानावग्नि में दक्षं दधातु।

मेरी सब इन्द्रियां शक्तिशालिनी हों। मेरे सब आन्तरिक पशु मेरे पास स्थित हों। मित्र और वरुण शक्तियां मेरे अन्दर प्राण और अपान को धारण करावें, और अग्नि मेरे अन्दर दक्षता को धारण करावे।

इस प्रकार यह १६ वें काण्ड का प्रथम अनुवाक समाप्त हुआ। इसके हम तीन विभाग कर सकते हैं।

१. जल व अग्नि के घोर रूप तथा तदुत्पन्न दोषों का शमन
२. व्यष्टि रूप से ऐन्द्रिमिक्र शक्तियों की प्राप्तिकी प्रार्थना।
३. समष्टि रूप से अन्य सब शक्तियों की प्राप्ति की प्रार्थना।

यदि इस क्रम से मनुष्य रोगादिकों का शमन करते हुए सब प्रकार की शक्तियों को प्राप्त करले तो, दुष्वप्न्यादि व्याधियां

उसे आक्रान्त नहीं कर सकतीं। दुष्वप्न्य आदि के लिए यह प्रथम अनुवाक पूर्व सावधानता या प्रतिषेध के समान है। परन्तु यह सब सावधानता रखते हुए भी दुष्वप्न आदि शत्रु मनुष्य पर आक्रमण कर ही देते हैं, इसलिए अगले अनुवाक में दुष्वप्नों के स्वरूप व उनके विनाश का वर्णन किया है।

सप्तम अध्याय

दुःस्वप्नों का स्वरूप व प्रकार

अथर्व० १६।५ सूक्त के प्रत्येक मन्त्र के अन्त में स्वप्न के लिए कहा गया है कि, "यमस्य करणोऽसि अन्तकोऽसि मृत्युरसि" अर्थात् हे स्वप्न! तू यम का साधक है, अन्तक है और मृत्यु है। यदि स्थूल दृष्टि से देखें, तो तीनों का एक ही भाव प्रतीत होता है। परन्तु हमारी सम्मति में ये तीनों पृथक् पृथक भावों के द्योतक हैं। अब हम क्रमशः इन विशेषणों पर विचार करते हैं।

यमस्य करणः—

'यमस्य करणः' का अर्थ है, यम का साधक। करण शब्द साधकतम अर्थ में आता है। अर्थात् जो यम का सब से बड़ा साधक है। यम के भी दो मुख्य अर्थ हैं, एक नियन्त्रण दूसरा मृत्यु। इस प्रकार 'यमस्य करणः' का अर्थ हुआ कि, स्वप्न निन्यत्रण का करने वाला और मृत्यु का करने वाला है। यह नियन्त्रण

और मृत्यु अच्छे व बुरे दोनों अर्थों में लग सकता है। बुरे स्वप्न का कोई शिकार हुवा हुवा है, तो वह उसके नियन्त्रण में रहता ही है। और वह बुरा स्वप्न उस की सब शक्तियों का हनन कर देता है।

दूसरी तरफ भद्र स्वप्न लेनेवाले मष्नुय को भी उसके नियन्त्रण में रहना पड़ता है, और वह भद्र स्वप्न उस मनुष्य की सब बुराइयों का विनाश कर देता है। इस प्रकार अभद्र व भद्र दोनों प्रकार के स्वप्नों में नियंत्रण व मृत्यु करने का सामर्थ्य है।

अन्तकः—

स्वप्न का अगला विशेषण 'अन्तकः' है। अर्थात् एक मनुष्य अभीतक अच्छा है, परन्तु बुरे स्वप्न का उस में प्रवेश हुआ कि नहीं, उस में से उन सब भलाइयों का अन्त हो जाता है। इसी प्रकार बुरे मनुष्य में किसी प्रकार भद्र स्वप्नों का प्रवेश होने लगे, तो वे शनैः शनैः मनुष्य में से बुराइयों का अन्त कर देते हैं। दिवा स्वप्न भी अपने से पूर्व की मनुष्य की अवस्था का अन्त कर देता है।

मृत्यु—

तीसरा विशेषण मृत्यु है। अर्थात बुरा स्वप्न अच्छाइयों को मारता है और अच्छा स्वप्न बुराइयों को मारता है।

इन तीनों का समन्वय हम इस प्रकार कर सकतेहैं कि बुरा स्वप्न जब मनुष्य पर आक्रमण करता है, तब वह उस मनुष्य को अपने नियन्त्रण (यमस्य करणः) में ले लेता है। अगला

उस का कार्य यह होता है कि, वह अच्छाइयों अथवा मनुष्य की तात्कालिक अवस्था को वहीं रोक (अन्तकः) देता है। यदि उस के रोकने पर भी कुछ अच्छाइयां बची रहीं, तो फिर वह उन को मारता है (मृत्युः)। इसी प्रकार भद्र स्वप्न के सम्बन्ध में भी समझा जा सकता है।

दूसरी बात जो कि, इस सूक्त के सम्बन्ध में विशेष रूप से कहनी है, वह यह कि, इस सूक्त में स्वप्न को ग्राही-अभूति आदि का पुत्र बताया गया है। ये ग्राही, अभूति आदि बुरे स्वप्न को तो पैदा करती ही हैं, परन्तु इन से अच्छा स्वप्न भी पैदा हो सकता है। यह हम मन्त्रों के अर्थ स्पष्ट करते हुए दिखायेंगे।

तीसरी बात जो कि, इस सूक्त के सम्बन्ध में कहानी है, वह यह कि, इस सुक्त में भद्र स्वप्न से प्रार्थना की है कि, वह हमारी दुष्वप्न्य से रक्षा करे। भद्र स्वप्न बुरे स्वप्नों का किस प्रकार निराकरण कर सकता है, यह विचारणीय है। स्वप्न दुष्वप्न्य से रक्षा करे-यह प्रार्थना करने से यह पता चलता है कि, स्वप्नावस्था अक्षुण्ण रहनी है। केवल स्वप्न की सामग्री बदलने की आवश्यकता है। किसी मनुष्य का स्वभाव यह है कि, वह अपने मस्तिष्क का उपयोग बुरे बुरे षडयन्त्र रचने व बुरी बुरी स्कीमों के बनाने में लेता है। उस के इस बुरे स्वभाव को बदलने का सरल उपाय यह नहीं है कि, उस को षड्यन्त्र रचने व स्कीमें आदि बनाने का अवसर ही न दें। सब से सरल उपाय यही है की, हम उसे समस्याओं के

सुलझाने तथा भद्र स्कीमों के बनाने के लिये प्रेरित करें। इस प्रकार जब वह भद्र स्कीमें बनाता रहेगा, तो स्वयं ही उसके अन्दर परिवर्तन हो जायेगा

दुष्वप्न्य का अर्थः—

इस सूक्त में भद्र स्वप्न से यह प्रार्थना की है कि, वह हमारी दुष्वप्न्य से रक्षा करे। विचारणीय यह है कि, दुष्वप्न्य किसे कहते है? दुष्वप्न्य की व्युत्पत्ति इस प्रकार हो सकती है। 'दुःस्वप्ने भवम्' अर्थात् दुःष्वप्न में होने वाले उसके परिणाम आदि दुष्वप्न कहला सकते हैं। परन्तु दुष्वप्न के भी स्वप्न शब्द के आधार पर दो अर्थ हो सकते हैं। एक बुरी नींद और दूसरा बुरा स्वप्न। जहां दुष्वप्न का अर्थ बुरी नींद करेंगे, वहां नींद के कारण उत्पन्न बुरा स्वप्न ही लिया जा सकता है। परन्तु जहां दुष्वप्न का अर्थ बुरा स्वप्न करें, वहां दुष्वप्न्य का अर्थ बुरे स्वप्नों से होने वाले रोग आदि दुष्परिणामों का ग्रहण करना चाहिये।

इस प्रकार दुष्वप्न्य के दो अर्थ हो सकते हैं, एक बुरी नींद से उत्पन्न बुरे स्वप्न और दूसरे बुरे स्वप्नों के दुष्परिणाम। एक वाक्य में कहना चाहें तो यह कह सकते हैं कि मन में समता व सामञ्जस्य (Harmony) न रह कर विकृत व रुग्ण विचारों का पैदा होना दुष्वप्न्य है।

इस प्रकार इस सूक्त में अच्छे व बुरे दोनों प्रकार के स्वप्नों में विवेक करके बुरे स्वप्नों के स्थान पर अच्छे स्वप्न लेने का विधान किया है।

अब हम मन्त्रों के आधार पर बुरे स्वप्नों के स्वरूप पर विचार करते हैं।

ग्राही का पुत्र— (आरूढ़ वृत्ति जन्य)

अथर्व० १६।५।१ में स्वप्न को ग्राही का पुत्र बताया गया है।

मन्त्र इस प्रकार है—

विद्म ते स्वप्न जनित्रं ग्राह्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः।

हे स्वप्न ! हम (ते) तेरी (जनित्रम्) उत्पत्ति को (विद्म) जानते हैं। तू (ग्राह्याः पुत्रः असि) ग्राही का पुत्र है। और (यमस्य करणः) मनुष्य को तू अपने नियन्त्रण में ले लेने वाला है।

इस उपर्युक्त मन्त्र में स्वप्न को ग्राही का पुत्र कहा गया है। अब विचारणीय यह है कि, ग्राही किसे कहते हैं ?

शब्दकल्पद्रुम में ग्राही के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा है--

गृह्णातीति, मलबन्धकः, धारकः इति वैद्यकम्।
प्रतिकूलो वा। ग्रहण कर्त्ता इति व्याकरणम्।

अर्थात् ग्राही के ये तीन अर्थ हुए हैं---

१ ग्रहण करने वाला

२. प्रतिकूल
३. मलबन्धक

वास्तव में सूक्ष्म दृष्टि से धात्वर्थ के आधार पर देखा जाय, तो 'ग्राही' का एक ही अर्थ है और वह अर्थ है, ग्रहण करने वाला। अन्य अर्थ तो, इस के विस्तार मात्र हैं। इस लिये धात्वर्थ के आधार पर ग्रहण करने पकड़ने वा जकड़ने का गुण जिस पदार्थ आदि में हो, वह ग्राही कहला सकता है। इस प्रकरण में ग्राही से तात्पर्य उनसे है, जो कि स्वप्न की उत्पत्ति के कारण हों।

इन को हम दो विभागों में विभक्त कर सकते हैं।

१. मानसिक-ग्राही
२ शारीरिक-ग्राही

१. मानसिक-ग्राही—

मानसिक ग्राही वे हैं, जो कि मनुष्य के मन को पकड़ते हैं। जब एक अपूर्ण इच्छा व कोई विचार मनुष्य के मन को इस तरह से पकड़ ले कि वह मनुष्य किसी तरह से भी उस से अपना पिण्ड न छुड़ा सके, तो वह इच्छा वा विचार स्वप्न की उत्पत्ति का कारण बनते हैं। इस लिये मन को जकड़ने वाले इच्छा व विचार आदि भी ग्राही कहला सकते हैं।

२. शारीरिक ग्राही--

दूसरे शारीरिक ग्राही हैं। ये भी कई प्रकार के हो सकते हैं। वैद्यक ग्रन्थों में मलबन्धक को ग्राही कहा गया है। वंद्य

गठिया रोग को भी ग्राही मानते हैं।

कई विद्वान् स्वप्न का अर्थ आलस्य तथा ग्राही का अर्थ गठिया रोग करते हैं। यह ठीक नहीं प्रतीत होता। क्योंकि इस सूक्त तथा अगले सूक्तों के स्वप्न सम्बन्धी वर्णन के आधार पर स्वप्नावस्था आलस्य की अवस्था से एक पृथक् ही अवस्था प्रतीत होती है। एक प्रकार से आलस्य परिश्रम तथ कार्य के अभाव की अवस्था है। परन्तु स्वप्नावस्था के लिये हम ऐसा नहीं कह सकते। वह एक भावात्मक अवस्था है। इस में शरीर तो कार्य नहीं कर रहा होता, परन्तु मनुष्य का मन बहुत कार्य कर रहा होता है। इस लिये यहां स्वप्न का अर्थ आलस्य करना और ग्राही का अर्थ गठिया रोग करना उचित नहीं प्रतीत होता। यहां पर स्वप्न शब्द आलस्य अर्थ में प्रयुक्त न होकर मानसिक अवस्था स्वप्नाऽवस्था के लिये प्रयुक्त हुआ है। और वेद में ग्राही शब्द शारीरिक ग्राही के लिये ही नहीं अपितु मानसिक ग्राही के लिये भी प्रयुक्त हुआ है। ग्राही के ऊपर विस्तार से विचार तो फिर कभी किया जावेगा, उदाहरण के तौर पर हम यहाँ एक मन्त्र दिये देते हैं।

अथर्व० १२।२।३६ में एक मन्त्र आता है, जो इस प्रकार है—

ग्राह्या गृहाः संसृज्यन्ते स्त्रिया यन्म्रियते पतिः।
ब्रह्मैव विद्वानेष्यो यः क्रव्यादं निरादधत् ॥

अर्थात् "(यत) जब (स्त्रियाः) स्त्रीका (पतिः) स्वामी (म्रियते) मर जाता है, तब (गृहाः) घर के अन्य सम्बन्धी

बन्धुबान्धव आदियों को (ग्रह्याः) ग्राही (संसृज्यन्ते) आ लगती है। उस समय (ब्रह्मैव विद्वान् एष्यः) ब्रह्मवेत्ता मुमुक्षु विद्वान् ही प्रापणीय है, (यः) जो कि (क्रव्यादम्) मांस खाने वाली इस ग्राही को (निरादधत्) निराकरण कर दे।"

इस मन्त्र में ग्राही, मानसिक ग्राही, चिन्ताशोकादि के सिवाय शारीरिक व्याधि में नहीं घट सकती। यह बात निर्विवाद सिद्ध ही है कि जब घर का कोई आदमी मर जाता है, तब घर के अन्य व्यक्ति चिन्ता शोकादि में डूब जाते हैं। चिन्ता, शोक आदि में डूबे हुए मनुष्य शनैः शनैः क्षीण हो जाते हैं। इस लिये इन ग्राहियों को क्रव्याद कहा है और उस समय उनकी चिन्ता आदि ग्राही को ब्रह्मवेत्ता विद्वान् ही दूर कर सकता है। इस मन्त्र में 'ब्रह्मैव विद्वान्' इस बात को बताता है कि, मानसिक आधि चिन्ता आदि ग्राहियों को स्थूल शरीर का वैद्य ठीक नहीं कर सकता। अपितु मोह-माया से ऊपर उठा हुआ, संसार विरक्त, ब्रह्मवेत्ता सन्त महात्मा ही दूर कर सकता है।

अतः इस उपर्युक्त मन्त्र से यह स्पष्ट है कि मानसिक ग्राही भी होती है और स्वप्न के प्रकरण में मानसिक ग्राही ही अधिक महत्व रखती है।

दूसरी जो शारीरिक ग्राही है, जो कि मलबन्धरूप या मल बन्ध करने वाली है, यह भी स्वप्नों को पैदा करने वाली है। यह तो सब मनुष्यों का प्रत्यक्ष अनुभव है कि जिस दिन मनुष्य का पेट खराब हो, उस दिन रात्रि को स्वप्न बहुत अधिक आते हैं। दिन में भी जागते हुए मन बहुत खराब रहता है।

मनुष्य के मन में नाना भांति के दुःसंकल्प तथा कुविचार पैदा होते रहते हैं।

इस प्रकार मानसिक ग्राही तथा शारीरिक ग्राही ये दोनों ग्राहियां दिवास्वप्न तथा रात्रिस्वप्न दोनों प्रकार के स्वप्नों को पैदा करने वाली हैं।

स्वप्न को ग्राही का पुत्र कहने का एक और भी भाव है। जिस प्रकार "सहसः पुत्रः" का भाव यह है कि वह बहुत साहसी है, उसी प्रकार स्वप्न को "ग्राही का पुत्र" कहने का भाव यह है कि वह स्वयं ग्राही पैदा करने वाला है। इस लिये जो मनुष्य रात दिन स्वप्न लेता रहता है, वह फिर स्वप्न के पाश से अपना पिंड नहीं छुड़ा सकता।

अब हम इस मन्त्र में वर्णित स्वप्न के अच्छे रूप को दर्शाते हैं।

ग्राही से आक्रान्त मनुष्य कालान्तर में जब उस के दुष्परिणामों को देखता है, तो उसे दुःख होता है। उस समय वह ग्राही से छूटने का प्रयत्न करता है। उस ग्राही से जहां एक तरफ बुरे स्वप्न पैदा होते हैं, वहां दूसरी तरफ प्रायश्चित्त की अवस्था में भद्र स्वप्न पैदा होने लगते हैं। इस प्रकार ग्राही भद्र स्वप्नों की भी जननी है।

निऋ॑ति का पुत्र—(तमोगुण जन्य)।

आगे अथर्व० १६।५।४ में स्वप्न को निऋ॑ति का पुत्र बताया

गया है। मन्त्र इस प्रकार है।

"विद्म ते स्व जनित्रं निर्ऋत्याः पुत्रोऽसि०"

अर्थात् "हे स्वप्न! हम तेरी उत्पत्ति को जानते हैं। तू निर्ऋति का पुत्र है।"

अब विचारणीय यह है कि, निर्ऋति किसे कहते हैं? देवराज यज्वा ने अपनी निरुक्त की टीका में निर्ऋति का निर्वचन इस प्रकार दिया है—

निर्ऋतिर्निरमणात् (२,७) निरुक्तम्। अस्य स्कन्द स्वामी=निरमणात्=निश्चलत्वेनाऽवस्थानात् इत्यर्थः......
वैयाकरणपक्षेण तु निरुपसृष्टादर्तेः क्तिनि निर्ऋतिः निःक्रान्ता कृतेर्गमनात् निश्चलवदवतिष्ठते इत्यर्थः।

अर्थात् "निर्ऋति शब्द निर् पूर्वक रम् धातु से अथवा निर् पूर्वक ऋ गतौ धातु से निष्पन्न किया जा सकता है। तथा व्याकरण के आधार पर निर्ऋति का अर्थ निश्चल होना, गति रहित होना, यह हो सकता है।"

गति शून्यता तथा निश्चलता की अवस्था तमोगुणी अवस्था की सूचक है और सामान्य मनुष्य की तो गतिशून्यता तथा निश्चलता की अवस्था तमोगुणी ही होती है। इस अवस्था में मनुष्य परिश्रम आदि न कर के आलसियों की तरह पड़ा रहता है। इस का परिणाम यह होता है कि मनुष्य आत्मिक-

मानसिक व शारीरिक आवश्यकताओं को भी पूरी न कर सकने के कारण नाना भांति के बुरे स्वप्न लिया करता है।

अब हम ब्राह्मणग्रन्थों के आधार पर भी निर्ऋति का स्वरूप व प्रभाव दिखाते हैं। जो कि निम्न प्रकार है—

पाप्मा वै निर्ऋतिः। (श० ७।२।१।१)
कृष्णा वै निर्ऋतिः। श० ७।२।१।७)
घोरा वै निर्ऋतिः। (श० ७।२।१ ११)

अर्थात् पाप्मा, कृष्णता, कलुषिता तथा घोर कर्म आदियों को निर्ऋति कहते हैं। जो मनुष्य पापयुक्त मलिन तथा भयानक कर्म करता है, उसका मन बड़ा विक्षुब्ध रहता है। वह नाना भांति के दुस्संकल्पों का शिकार बना रहता है। और रात्रि को भी उसे नाना भांति के भयावने स्वप्न दिखाई देते हैं। इसी प्रकार निर्ऋति के जो अन्य अर्थ हैं कष्ट, मृत्यु तथा समाज से पृथक् कर देना इत्यादि बातें भी निर्ऋति के ही अन्य रूप हैं। कष्ट आदि के होने पर भी मनुष्य को नाना भांति के स्वप्न आया करते हैं।

अब हम वेद के आधार पर भी निर्ऋति के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार करते हैं। मन्त्र में कहा है—

सुषुप्वांसं न निर्ऋतेरुपस्थे। (ऋ० १।११७५)।

अर्थात् "निऋति की गोद में बैठा हुआ मनुष्य सोते हुवे के समान होता है।" यह मन्त्र भाग निर्ऋति की तामसिक अव-

स्था का कैसा सुन्दर निदर्शक है! अर्थात जो मनुष्य निर्ऋति से आक्रान्त होता है, वह सोया हुआ सा अर्थात् तामसिक अवस्था में होता है। और अथर्व० ३।६।५ में कहा है कि—

सिनात्वेनान् निर्ऋतिर्मृत्योः पाशैरमोक्यैः।

अर्थात् निर्ऋति इन्हें कभी न छूटने वाले मृत्यु के पाशों में बांध ले। इस निर्ऋति के कारण मनुष्य की आत्मिक, मानसिक व शारीरिक तीनों प्रकार की मृत्यु हो सकती है। इस लिये ऋ० १।२४।६ में इस प्रकार कहा कि—

बाधस्व दूरे निर्ऋतिं पराचैः।

अर्थात् प्रकृष्ट गतियों से निर्ऋति को दूर करदो। यहां 'पराचैः' शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। यह शब्द परा उपसर्ग अञ्च् धातु से बनता है। इस का भाव यह है कि, प्रकृष्टगति द्वारा शत्रु को दूर फेंकना।

यह जो निश्चलता तथा गतिशून्यता की तामसिक अवस्था है, इस को श्रेष्ठ तथा उन्नति की ओर बढ़ने की भावना को अपने अन्दर धारण करके दूर किया जा सकता है। और निर्ऋति से उत्पन्न बुरे स्वप्नों को दूर करने का भी यह श्रेष्ठ उपाय है कि मनुष्य निरन्तर गति करे, उन्नति की ओर पग बढ़ाये, तामसी तथा आलसी मनुष्यों की तरह प्रारब्ध का आश्रय कर हाथ पर हाथ धर कर न बैठा रहे।

दूसरे 'निर्ऋति के पुत्र' का भाव यह हुआ कि स्वप्न स्वयं निर्ऋति को पैदा करने वाला है। जो मनुष्य सदा स्वप्न लेते

रहते हैं। वे निर्ऋति के शिकार बन जाते हैं। इस लिये जिस प्रकार निर्ऋति बुरे २ स्वप्नों को पैदा करने वाली है, उसी प्रकार स्वप्न भी बढ़ कर निर्ऋति को पैदा कर देते हैं।

अब निर्ऋति से उत्पन्न अच्छे स्वप्न का भी स्वरूप दिखाते हैं। जब मनुष्य पर निर्ऋति की अति हो जाती है, किसी भी उपाय से वह उस से अपना पिण्ड नहीं छुड़ा सकता, तो अन्त में सर्व दुःखहन्ता, नियन्ता प्रभु की शरण में वह पहुँचता है। और इस प्रकार प्रभु भक्ति में भद्र स्वप्नों का आगार बन जाता है। दूसरे जब मनुष्य दूसरों को निर्ऋति अर्थात् कष्ट आदि में देखता है, तो उस का हृदय पसीजता है, वह उनके कष्टों को दूर करने के लिये कटिबद्ध होता है, नानाविध उपाय सोचता है। इस प्रकार दूसरों की निर्ऋति को दूर करने के लिये वह भद्र स्वप्न लेता है।

अभूति का पुत्र — (अभाव जन्य)

अथर्व० १६।५।५ में स्वप्न को अभूति का बताया गया है। मन्त्र इस प्रकार है।

'विद्म ते स्वप्न जनित्रमभूत्याः पुत्रोऽसि'

अर्थात् हे स्वप्न! हम तेरी उत्पत्ति को जानते हैं, तू अभूति का पुत्र है।

अभूति का सामान्य अर्थ अभाव है। इस का तात्पर्य यह हुआ कि मनुष्य के पास जिस चीज का अभाव हो, वह उस के स्वप्न लिया करता है। एक मनुष्य गरीब है, अपनी

सामान्य इच्छाओं की पूर्ति के लिये भी उसके पास ऐश्वर्य नहीं, तो वह रात दिन ऐश्वर्यों के ही स्वप्न लिया करता है। एक मनुष्य का स्वास्थ्य खराब रहताहै, वह भी सदा स्वास्थ्यप्राप्ति के ही स्वप्न लिया करता है। इसी प्रकार जिस जिस वस्तु का अभाव मनुष्य में हुआ करता है, वह मनुष्य उसी उसी वस्तु के स्वप्न सदा लिया करता है। परन्तु एक बात का ध्यान और रखना चाहिए और वह यह कि यहां अभूति से तात्पर्य सामान्य अभाव से नहीं है। किसी मनुष्य के पास सवारी के लिए मोटर नहीं है, तो हम यह नहीं कह सकते कि, मोटर के अभाव से उस मनुष्य को बुरे बुरे स्वप्न आते हैं। अभूति का अर्थ है, अनिवार्य भूति का न होना और भूति उस ऐश्वर्य को कहते हैं, जिसका होना प्रत्येक मनुष्य के लिए नितान्त आवश्यक है। भूति और अभूति इन दोनों का प्रत्येक मनुष्य के साथ सम्बन्ध है। वेदमें आता है—

भूतिश्च वा अभूतिश्च रातयोऽरातयश्च याः।
क्षुधश्च सर्वास्तृष्णाश्च शरीरमनुप्राविशन् ॥

(अ० ११।८।२१)

अर्थात् भूति, अभूति, राति, अराति और सब प्रकार की भूख और प्यास शरीर धारण के साथ साथ मनुष्य में प्रविष्ट होते हैं।

इसका भाव यह है कि, मनुष्य जब शरीर धारण कर पृथिवी पर अवतरित होता है, तब उसके साथ भूति, अभूति, भूख

प्यास आदि भी आते हैं। वह भूति अर्थात् ऐश्वर्य दो प्रकार का है—

१. आधिभौतिक।

२. आध्यात्मिक।

आधिभौतिक ऐश्वर्य, धन, सम्पत्ति आदि प्राकृतिक ऐश्वर्य कहलाता है, और आध्यात्मिक ऐश्वर्य सुबुद्धि, सुजनता, सत्यता श्रेष्ठ गुण तथा स्वास्थ्य आदि शारीरिक विभूति ये सब आध्यात्मिक विभूति कहलाती हैं। इसी प्रकार अभूति भी दो प्रकार की हुई- आधिभौतिक और आध्यात्मिक।

जिस मनुष्य के पास धन, सम्पत्ति आदि प्राकृतिक ऐश्वर्य नहीं है, वह निर्धन मनुष्य अपनी सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति न कर सकने के कारण बुरे बुरे स्वप्न लिया करता है। इसी प्रकार जिस मनुष्य के पास आध्यात्मिक भूति नहीं, अर्थात् सज्जनता, सुबुद्धि आदि श्रेष्ठ गुण नहीं, वह मनुष्य अविवेक, अज्ञान आदि के द्वारा सदा कष्ट में पड़ा रहने के कारण बुरे बुरे स्वप्न देखता है। और यदि वह भावात्मक रूप में दुष्टबुद्धि हो, तो वह अपनी आदत से लाचार सबकी हानि पहुंचाने के लिए सदा नाना भांति के षड्यन्त्र रचता रहता है। और जिस मनुष्य के पास आधिभौतिक भूति तो हो, परन्तु आध्यात्मिक भूति न हो वह मनुष्य भी बुरे बुरे स्वप्न देखता है। आध्यात्मिक भूति रहित मनुष्य अपने भोगविलास तथा ऐश्वर्य के मद में अन्धा हुआ हुआ पापादि करने से नहीं

हिचकता। इसलिए वह बुरे बुरे स्वप्न लिया करता है। एक बात का और ध्यान रखना चाहिए, और वह यह कि बुरे स्वप्नों को दूर करने में आधिभौतिक भूति की अपेक्षा आध्यात्मिक भूति अत्यन्त आवश्यक है। एक आदमी के पास प्राकृतिक धन, सम्पत्ति तो नहीं है, परन्तु शिक्षा आदि के द्वारा उसमें आध्यात्मिक भूति बहुत है, तो वह मनुष्य बुरे स्वप्नों का शिकार नहीं बनता। ऋषि महर्षि उपर्युक्त बात के ज्वलन्त उदाहरण हैं। क्योंकि बुरे स्वप्नों का आना बुरे मन तथा अनियन्त्रित मन पर आश्रित होता है। इसलिए बुरे स्वप्नों को दूर करने के लिए आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों भूतियों का होना आवश्यक है। परन्तु आध्यात्मिक भूति का होना तो नितान्त आवश्यक है।

वेद में भी भूति और अभूति के सम्बन्ध में कहा है कि-

"भूत्यै जागरणमभूत्यै स्वपनम्" (यजु. ३०।१७)

अर्थात् भूति के लिए जागना और अभूति के लिए सोना। इसका भाव यह हुआ कि, यदि भूति प्राप्त करनी है, तो निद्रा छोड़कर जागना पड़ेगा जो मनुष्य सदा सब बातों में जागरूक रहता है; वह भूति प्राप्त करता है। और जो मनुष्य सोता रहता है, उस मनुष्य को अभूति आ घेरती है। अभूति इस बात का चिह्न है कि, वह मनुष्य आलसी व प्रमादी है, वह सोता रहता है। इस प्रकार अभूति मनुष्य में दुःस्वप्नों को पैदा करने में बड़ा भारी कारण है।

परन्तु जब मनुष्य अपने अन्दर किसी चीज का अभाव देखकर दुष्वप्न्य लेने अथवा हाथ पर हाथ धरकर बैठे रहने की अपेक्षा उसे दूर करने के लिए उपाय सोचता है, और उद्यम करता है, तब इसके अन्दर भद्र स्वप्न पैदा होते हैं। जहां तो अभूति श्रेष्ठ मार्ग द्वारा ऐश्वर्य प्राप्त करना और अपनी बुराइयों पर नियन्त्रण करना सिखाती है, वहां भद्र स्वप्न पैदा होते हैं, परन्तु जहां अभूति निराशा व निरुद्यम वृत्ति को पैदा करती है, और जिसके प्रभाव से जिस किसी भी प्रकार से ऐश्वर्य प्राप्त करना ही अन्तिम उद्देश्य बन जाता है, वहां वह बुरे स्वप्नों को पैदा करनेवाली होती है। अथवा दूसरे की अभूति को देखकर भी मनुष्य में उनको दूर करने के लिए भद्र स्वप्न पैदा हो सकते हैं इस प्रकार अभूति भद्र स्वप्नों को भी पैदा करनेवाली है।

निर्भूति का पुत्र—(क्षति-जन्य)

हम अभी ऊपर यह देख चुके हैं कि, जिस मनुष्य के पास आध्यात्मिक और आधिभौतिक दोनों प्रकार के ऐश्वर्य होते हैं, वह स्वप्न से नितान्त दूर होता है। परन्तु यदि कालान्तर में दौर्भाग्यवश वे दोनों ऐश्वर्य मनुष्य में से निकल जायें तो वह मनुष्य दुःष्वप्न का शिकार बन जाता है। इसी भाव को अथर्व० १६।५।६ में दुष्वप्न को निर्भूति का पुत्र कहकर इस प्रकार प्रकट किया गया है।

"निर्भूत्याः पुत्रोऽसि" अर्थात् 'हे स्वप्न! तू निर्भूति का पुत्र है। अर्थात् पहले तो ऐश्वर्य हो,

फिर वह निकल जाये तो दुष्वप्न्य मनुष्य को आ घेरते हैं। आध्यात्मिक सम्पत्ति से रहित केवल मात्र आधिभौतिक ऐश्वर्य को ही रखता हुआ मनुष्य जिस प्रकार अपनी लक्ष्मी के मद में अन्धा हुआ हुआ नाना भांति के दुष्वप्न्य देखता है, उसी प्रकार उस लक्ष्मी के निकल जाने पर गरीबी अवस्था में आकर वह मनुष्य दुष्वप्नों का शिकार बन जाता है। और दूसरे आध्यात्मिक ऐश्वर्य को रखने वाला मनुष्य भी जब कुसंगति में पड़कर अपनी आध्यात्मिक सम्पत्ति को खो बैठता है, तो सामान्य मनुष्य की तरह वह भी दुष्वप्न्य आदि का शिकार बन जाता है। भौतिक ऐश्वर्य के ऊपर तो मनुष्य का कोई अधिकार नहीं, पता नहीं वह कब धोखा दे जाय। परन्तु आध्यात्मिक ऐश्वर्य का रखना या निकाल देना मनुष्य के अपने ऊपर निर्भर है। यदि आध्यात्मिक ऐश्वर्य बना रहे, फिर चाहे भौतिक ऐश्वर्य विनष्ट भी हो जाये, तो भी मनुष्य दुष्वप्नों का शिकार नहीं बन सकता। इसलिये आध्यात्मिक ऐश्वर्य को स्थिर रखने के लिए मनुष्य को सदा श्रेष्ठ गुणों का धारण तथा सत्संगति आदि करते रहना चाहिए। तभी वह दुष्वप्नों के आक्रमणों से अपने को बचा सकता है।

स्वप्न का निर्भूति का पुत्र कहलाने का दूसरा भाव यह है कि, जो मनुष्य दोनों प्रकार की भूतियों से सम्पन्न हो, परन्तु दौर्भाग्य से कुसंगति आदि में पड़कर आलसी व प्रमादी हो जाये, जागरूक रहने की अपेक्षा सोता रहे, शेखचिल्लियों की तरह मनोमोदक बनाता रहे, तो उस मनुष्य की दोनों भूतियां विनष्ट हो जायेंगी। इसलिये स्वप्न निर्भूति के लाने में भी

कारण बनता है।

दूसरी तरफ निर्भूति के द्वारा मनुष्य में भद्र स्वप्न इस प्रकार पैदा हो सकते हैं कि, इस भौतिक ऐश्वर्य के निकल जाने पर मनुष्य यह सोचे कि, यह तो चञ्चल माया है। इस से मोह करना अपने को पथभ्रष्ट करना है। यह सोच कर वह इस भौतिक माया के पीछे भागना छोड़ देता है और परमात्मा की भक्ति के भद्र स्वप्न लेने लगता है।

पराभूति का पुत्र-- (पराभव-जन्य)

अथर्व० १६।५।७ में स्वप्न को पराभूति का पुत्र बताया गया है।

पराभूति पराभव को कहते हैं। कोई मनुष्य किसी से पराभव को प्राप्त हो जाये, नीचा देख ले, तो वह पराभूत मनुष्य अपने प्रतिद्वन्दी के प्रति द्वेषबुद्धि रखने लगता है। और उसके विनाश के लिए नाना भांति के बुरे बुरे स्वप्न लिया करता है। अथवा पराभव करने वाले का उसके ऊपर इतना आतंक बैठ जाता है कि, वह मनुष्य रात्रि को भी सुख की नींद नहीं सो सकता। रात्रि को स्वप्न भी उसे उसी के आते हैं। इसलिये पराभव को स्वप्न का पैदा करने वाला बताया गया है।

मनुष्य को यह पराभव केवल मनुष्य से ही नहीं देखना पड़ता। अचेतन पदार्थ भी मनुष्य को पराभूत कर देते हैं। किसी पदार्थ व विषय की प्राप्ति में मनुष्य अत्यधिक परिश्रम करे और फिर उसका कोई अभीष्ट परिणाम न निकले,

तो वह मनुष्य उस अचेतन पदार्थ से पराभूत हो जाता है। रात दिन उसे उसी पदार्थ के स्वप्न आते रहते हैं।

दूसरे स्वप्न को 'पराभूति का पुत्र' कहने का भाव यह भी है कि जो मनुष्य सदा स्वप्न में ही विचरता है, वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पराभव को प्राप्त होता है। ऐश्वर्य भी सदा उस से दूर रहता है।

परन्तु पराभूति से भद्र स्वप्न भी पैदा होता है। एक मनुष्य दूसरे से जब पराभव को प्राप्त होता है, तब साधारण प्रवृत्ति तो यह है कि पराभूत होने वाले मनुष्य में अपने पराभवकर्ता के प्रति ईर्षा द्वेष आदि पैदा होते हैं। परन्तु दूसरी तरफ ईर्षा न पैदा होकर स्पर्धा भी पैदा हो सकती है। ऐसी अवस्था में पराभव मधुर पराभव होता है। इस पराभव में मनुष्य स्पर्धा के बल पर आगे बढ़ने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार पराभूति भद्र स्वप्नों को पैदा करनेवाली भी है।

देवजामियों का पुत्र—(असुर–जन्य)

अथर्व. १६।५।८। में स्वप्न को 'देवजामयों का पुत्र' बताया गया है। वहां आता है कि—

विद्म ते स्वप्न जनित्रं देवजामीनां पुत्रोऽसि० ॥

'हे स्वप्न! हम तेरी उत्पत्ति को जानते हैं, तू देवजामियों का पुत्र है!'

अब विचारणीय यह है कि देवजामि किसे कहते हैं ? देव-जामि दो शब्दों (देव+जामि) से मिलकर बना है। जामि के अनेक अर्थ हैं। उनमें एक अर्थ बन्धु भी है। देवराज यज्वाने जामि का अर्थ " सनाभयः " भी किया है। सनाभि उन बन्धुओं को कहते हैं जो कि एक नाभि से पैदा होते हैं। इस प्रकार देवजामि का अर्थ हुआ " देवताओंके सनाभि बन्धु।" अब विचारणीय यह है कि ये देवों के बन्धु कौन हैं ? ब्राह्मणग्रन्थों में अनेकों स्थलों पर यह आता है कि असुर और देव दोनों प्रजापति के पुत्र हैं। उदाहरणार्थ दो एक स्थल हम यहाँ दिखा देते हैं। तां. १८।१।२ में आता है कि " देवाश्च वा असुराश्च प्रजापतेर्द्वयाः पुत्राः आसन्" अर्थात् देव और असुर ये प्रजापति के दो पुत्र हैं। इसी प्रकार शत. १।७।२ २२ में भी आता है " देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्याः " अर्थात् देव और असुर ये दोनों प्रजापति के पुत्र हैं। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रमाणों से यह स्पष्ट पता चल रहा है कि देव और असुर दोनों भाई भाई हैं और प्रजापति इनका पिता है। इस लिये स्वप्न के प्रकरण में आये "देवजामि" अर्थात् देवताओं के बन्धु शब्द से असुरों का ग्रहण करना चाहिये।

अब फिर प्रश्न उपस्थित होता है कि वे असुर कौन हैं जो कि स्वप्नों को पैदा करते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यह हो सकता है कि इस स्वप्न के प्रकरण में असुर से तात्पर्य आसुरी भावों से है। क्योंकि आसुरी भाव ही मनुष्य में दुष्वप्न्यादि की उत्पत्ति के कारण बनते हैं। ये आसुरी भाव और दिव्य भाव मनरूपी

प्रजापति के पुत्र हैं। आसुरी भावों और दिव्य भावों को पैदा करने के कारण मन प्रजापति कहलाता है। तै. ३।७।१।२ श. ४।१।१।२२ में मन को प्रजापति कहा भी है। वहां आता है- "प्रजापतिर्वै मनः" अर्थात् मन प्रजापति है। मन से कभी दिव्य भाव पैदा होते हैं कभी आसुरी भाव पैदा होने लगते हैं। इस लिये इन दोनों का उत्पत्ति स्थान एक होने के कारण ये दोनों परस्पर बन्धु कहलाते हैं।

इस प्रकार देवजामि आसुरी भाव हुए और दुष्ट स्वप्न इन आसुरी भावों के पुत्र कहलाये।

दूसरे दुष्ट स्वप्नों को देवजामि का पुत्र कहने का भाव यह भी हो सकता है कि, सदा स्वप्न लेने वाले मनुष्य का मन आसुरी भावों की उत्पत्ति में कारण बनता है।

देवजामि का एक और अर्थ हो सकता है वह यह कि देव अर्थात इन्द्रियों की बहनें। ये इन्द्रियों की बहनें मानसिक वृत्तियां हैं। ये वृत्तियां अच्छी व बुरी दोनों प्रकार की होती हैं। इन का इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध होता है। इन दोनों में से जैसी वृत्ति का इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध होगा, वैसे ही स्वप्न मनुष्य को आयेंगे। अच्छी वृत्ति का इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध हुआ तो अच्छे स्वप्न आयेंगे। इस प्रकार अच्छे स्वप्न भी देव-जामि के पुत्र हो सकते हैं।

पैप्पलाद संहिता अथर्ववेद की एक शाखा है। उस में शौनकीय

शाखा से कुछ भिन्नता पाई जाती है। स्वप्न सम्बन्धी भिन्नता को हम यहां स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं।

शौनकीय शाखा में जहां स्वप्न को पुत्र बताया गया है, वहां मातृरूप में केवल अभूति, निर्भूति आदि का ही परिगणन किया गया है। परन्तु पैप्पलाद संहिता में मातृ-स्थानीय अभूति आदियों के साथ २ पिता आदि का भी निर्देश मिलता है। वहां आता है—

"विद्म ते स्वप्न जनित्रं पाप्मनः पुत्रोऽसि अभूत्या अधिजातः ॥

(अथर्व. १७।२४।१)

अर्थात 'हे स्वप्न ! हम तेरी उत्पत्ति को जानते हैं। तू पाप का पुत्र है और मातृस्थानीय अभूति से पैदा हुआ है'

यहां पाप्मा को स्वप्न का पिता बताया गया है और अभूति को माता। इस से स्पष्ट है कि, पाप्मा और अभूति का परस्पर सम्बन्ध है। वेद के इस वर्णन से स्पष्ट है कि, जो मनुष्य पाप करते हैं वे अभूति के शिकार बनते हैं। और पाप्मा तथा अभूति से उत्पन्न होने वाले स्वप्न भी इन्हें आ दबाते हैं। अतः दुष्ट स्वप्नों से बचने का उपाय यह है कि, हम अभूति अर्थात् ऐश्वर्याभावादि के शिकार न हों। और इस अभूति को दूर करने के लिये यह आवश्यक है कि हम पापों से बचें।

वरुण पुत्रः— (भय जन्य)।

आगे पै. १७।२४।५ में आता है कि—

"विद्म ते स्वप्न जनित्रं वरुणस्य पुत्रोऽसि वरुणान्या अधि जातः"।

अर्थात् 'हे स्वप्न! हम तेरी उत्पत्ति को जानते हैं। तू वरुण का पुत्र है और वरुणानी तेरी माता है।'

अब विचारणीय यह है कि, यहां स्वप्न को वरुण और वरुणानी का पुत्र कहने का क्या भाव है? वेद में वरुण को रज्जुवाला, पाशवाला बताया गया है। अर्थात् वह दुष्टों को घेर कर अपने पाश में बांधता है। इस लिये कई विद्वान् इसे राष्ट्र में पुलिस-विभाग का अधिकारी मानते हैं। कुछ भी हो, यह वरुण दुष्टों को अपने पाश में बांधता है। शत. १२।७।२।१७ में आता है कि—

वरुणो वा एतं गृह्णाति यः पाप्मना गृहीतो भवति।

अर्थात् 'वरुण उसको अपने पाश में पकड़ लेता है जो कि पाप्मा से जकड़ा हुआ होता है।' इस लिये दुष्टोंका पकड़ना वरुण का काम है और यही कार्य राष्ट्र में पुलिस का है। यह प्रायः सभी जानते हैं कि, जिस मनुष्य को कैदखाने आदि बन्धन में डाल दिया जाये, उसे बुरे बुरे स्वप्न आते हैं। बन्धन से छूटने के लिये वह अनेकों प्रयत्न करता है। कैदखाने व बन्धन में पड़े हुए मनुष्य में नाना भांति के बुरे बुरे तथा बुद्धि प्रतिकूल विचार उठते हैं। और बन्धन में डालने वाले के विरुद्ध अनेकों षड्यन्त्र सोचता रहता है। और रात्रि में सोते हुए भी वह तत्सम्बन्धी बुरे बुरे स्वप्न देखा करता है। अथवा दूसरा भाव यह है कि, बन्धन में फंस कर मनुष्य की शक्ति क्षीण

सी हो जाती है और वह दुःख में फंसा हुआ नाना भांति के भय, दुःख तथा विपत्ति आदि के बुरे बुरे स्वप्न देखा करता है। इस प्रकार वरुण के भय से उत्पन्न दुष्वप्नों को हम दो विभागों में विभक्त कर सकते हैं—

१. प्रतिहिंसा सम्बन्धी दुष्वप्न्य।
२. निराशा में भयावने तथा आत्मविपत्तिसम्बन्धी स्वप्न।

क्योंकि वरुण के कारण ये स्वप्न पैदा होते हैं, इस लिये वरुण को इनका पिता कह दिया गया है। आगे वरुणानी को दुष्वप्न्य की माता बताया गया है। अब विचारणीय यह है कि, यह वरुणानी कौन है? हमारी समझ में वरुणानी वह मानसिक वृत्ति है जो कि अपराध करने पर वरुण के भय से मनुष्य में पैदा होती है। क्योंकि वरुण और उस के भय से उत्पन्न मानसिक वृत्ति ये दोनों मिल कर स्वप्न को पैदा करते हैं। इन दोनों में से कोई एक न हो तो स्वप्न पैदा नहीं हो सकता। वरुण न हो तो भय की वृत्ति हो ही नहीं सकती। क्योंकि जब भय पैदा करने वाला न हो तो भय की वृत्ति क्यों पैदा होगी? और यदि वरुण तो हो पर वह भय की वृत्ति पैदा न हो तो भी दुष्वप्न्य पैदा न होंगे। इस लिये दोनों के होने पर ही स्वप्न पैदा होते हैं। और चूंकि वृत्ति से स्वप्न पैदा होता है, अतः वह मातृस्थानीय है।

अगले मन्त्र में वैदिक पुरुष कहता है कि 'हे वरुण से उत्पन्न बुरे स्वप्न! तेरी उत्पत्ति को हम जानते हैं। तू शत्रु के प्रति

जा।' अर्थात् हम वेदानुकूल आचरण रखने वाले हैं। वरुण के पाशों में हम नहीं फंस सकते। इस लिये वरुण से उत्पन्न जो बुरे स्वप्न हैं, वे वेदाज्ञानुकूल आचरण न रखने वाले हमारे शत्रुओं को प्राप्त हों।

शारीरिक क्षेत्र में वरुण का अर्थ अपानवायु है। यह अपानवायु शरीर में वही कार्य करता है जो कि, राष्ट्र में वरुण अधिकारी करता है। अर्थात् यह अपानवायु शरीररूपी राष्ट्र में से दूषित मलों व शरीर के लिये अनावश्यक पदार्थों को मल मूत्र व बीमारी आदि के रूप में बाहिर निकाल देता है। ये दूषित मल दिमाग व शरीर में फैलकर विकार पैदा कर देते हैं, इस से मनुष्यों को बुरे २ स्वप्न आते हैं।

पै, १७।२४।६ में कहा है कि—

सामपुत्र-- (विश्राम जन्य)

"साम्नः पुत्रोऽसि रात्र्या अधि जातः"

अर्थात 'हे स्वप्न! तू साम का पुत्र है और रात्रि से पैदा हुआ है।'

विचारणीय यह है कि, साम और रात्रि किस प्रकार स्वप्न की उत्पत्ति में कारण बनते हैं। साम का एक सामान्य अर्थ है शान्त होना, अर्थात् शरीर तथा इन्द्रियादिकों से परिश्रमादि का न करना। रात्रि में शरीरादि का शान्त होना अत्यन्त स्वाभाविक है।

इस लिये साम और रात्रि का बहुत स्वाभाविक सम्बन्ध है। परन्तु साम शब्दों को हमें रात्रि तक ही सीमित नहीं करना चाहिये। दिन के साथ भी इसका सम्बन्ध है। वह इस प्रकार कि जो मनुष्य शरीर तथा इन्द्रियादिकों से परिश्रम नहीं करते वे दिवास्वप्न तो लेते ही हैं, परन्तु रात्रि में भी बहुत स्वप्न देखा करते हैं। रात्रि में एक तो मनुष्य को वैसे ही बहुत स्वप्न आते हैं, परन्तु दिन में यदि वह बिल्कुल परिश्रम न करता हो तो वह मनुष्य और भी ज्यादः स्वप्नों का शिकार बनता है। एक बात और भी ध्यान में रखनी चाहिये कि, यहाँपर साम शब्द मानसिक समता आदि ऊँचे अर्थ में नहीं आया प्रतीत होता है। यदि यहाँ साम का मानसिक समता आदि उत्कृष्ट अर्थ होता तो बुरे स्वप्नों की उत्पत्ति में वह कारण न बनता।

साम का अर्थ यहाँपर परिश्रम आदि न कर के आलसियों की तरह पड़े रहना, ऐसा समझना चाहिये। ऐसे परिश्रमरहित आलसी मनुष्यों को रात्रि में बहुत बुरे बुरे स्वप्न आते हैं। यह प्रत्येक मनुष्य स्वयं अनुभव कर सकता है कि, जब मनुष्य शरीरादि इंद्रियों से कोई कार्य नहीं ले रहा होता है, तथा चुप चाप बैठा होता है, तब उस के मन में बुद्धिप्रतिकूल अच्छे व बुरे सभी प्रकार के विचार पैदा होते हैं। प्रश्न होता है, यह क्यों? इस का कारण यह है कि, मनुष्य का मन कभी भी कार्यरहित वा निकम्मा नहीं बैठता। उसे हर समय कोई न कोई कार्य अवश्य चाहिये। दिन में जब हम जिस जिस इंद्रिय का कार्य कर रहे होते हैं, मन उसी तरफ लगा रहता है। और जब शरीर

और इंद्रिय कार्य करना छोड़ देते हैं. तब मन अपनी उड़ानें लेने लगता है।

रात्रि में भी शरीर व इंद्रियां तो शांत होती हैं, परन्तु मन को तो कार्य अवश्य करना है। जब शरीर व इन्द्रियों से उसे अवकाश मिलता है, तब वह स्वतन्त्र रूप से अपना कार्य प्रारम्भ करता है नानाविध स्वप्न देखता है। इस लिये साम स्वप्न की उत्पत्ति में बहुत बड़ा कारण है। और यह साम अवस्था रात्रि में अवश्य होती है, इस लिये रात्रि में मनुष्य प्रायः स्वप्न देखते ही हैं।

आगे पै. १६।२४।११ में कहा है कि—

गन्धर्वपुत्र—(काम जन्य)

गन्धर्वाणां पुत्रोऽसि अप्सरोभ्यो अधि जातः।

अर्थात 'हे स्वप्न! तू गन्धर्वों का पुत्र है और अप्सराओं से पैदा हुआ है।' ब्राह्मण ग्रन्थों में गन्धर्व और अप्सराओं के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा है—

गन्धो मे मोदो मे प्रमोदो मे तन्मे युष्मासु
(जै. उ. ३।२५।४)

अर्थात 'मुझे सुगन्धित पदार्थ प्राप्त हों, आनन्द व खुशी में मैं रहूँ, ऐसा जो चाहते हैं वे गन्धर्व कहलाते हैं।'

शत. ६।४।१।४ में गन्धर्व और अप्सराओं के सम्बन्ध में कहा है।

गन्धेन च वै रूपेण च गन्धर्वाप्सरसश्चरन्ति।

अर्थात् 'गन्धर्व और अप्सरायें गन्ध और रूप से ही व्यवहार करते हैं।' अर्थात जो मनुष्य व स्त्रियें सुगन्धित तेल व पाउडर आदि लगाना अपने जीवन का परमोद्देश्य समझते हैं और एक दूसरे के रूप पर ही मोहित हो जाते हैं, वे ब्राह्मण ग्रन्थों में गन्धर्व और अप्सराओं के नाम से कहे गये हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में अन्यत्र भी ऐसा ही वर्णन आता है।

रूपमिति गन्धर्वा उपासते। (श. १०।५।२।२०)

अर्थात गन्धर्व रूप की ही उपासना करते हैं।

योषित्कामा वै गन्धर्वाः। (श. ३।२।४।३)
स्त्रीकामा वै गन्धर्वाः। (ऐ. १।२७)

अर्थात गन्धर्व सदा स्त्रियों का चिन्तन करते रहते हैं। उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि जो मनुष्य व स्त्रियें, तेल व पाउडर आदि सुगन्धित पदार्थ लगाते हैं, और अपने को सुन्दर रूपवाला बनाने के प्रयत्न में सदा लगे रहते हैं और गुणों को न देख कर एक दूसरे के रूप पर ही मोहित हो जाते हैं, उन मनुष्यों व स्त्रियों को बहुत बुरे बुरे स्वप्न आया करते हैं। यह विषय-वासना की इच्छा कभी तृप्त होने वाली नहीं है। इस इच्छा को जितना तृप्त करने का प्रयत्न किया जाये, यह उतनी ही बढ़ती है। इसलिये भोगविलास में पड़े हुए मनुष्य व स्त्रियें अतृप्त इच्छा में बुरे बुरे स्वप्नों को देखते हैं।

शौनकीय व पैप्पलाद संहिताओं के स्वप्न सम्बन्धी इस प्रकरण में स्वप्न को पुत्ररूप में बताया गया है। पुत्ररूप में वर्णन करना वेद की एक शैली है। इस संसार में किसी का पूर्ण चित्र या गुण व अवगुणों का पूर्ण अवतरण कहीं देखना हो तो वह पुत्र में दिखाई देगा। वेद भी पुत्र रूप में यदि किसी का वर्णन करता है तो हमें यही भाव प्रतीत होता है। वेद के धुरन्धर विद्वानों से यही प्रार्थना है कि वे वेद की इस शैली पर अपने विचार प्रकट करें।

इस प्रकार पुत्र रूप में वर्णित स्वप्न के स्वरूप का विवेचन करने का हमने प्रयत्न किया। अब हम स्वप्न सम्बन्धी अन्य मन्त्रों की व्याख्या आप के सामने रखते हैं।

उत नग्ना बोभुवती स्वप्नया सचसे जनम्।
अराते चित्तं वीर्त्सन्त्याकूतिं पुरुषस्य च ॥ अ. ५७८

हे (अराते) अदानशक्ति! तू (पुरुषस्य चितं आकूत्तिं च) पुरुष के चित्त व संकल्प शक्ति को (वीर्त्सन्ती) विनष्ट करती हुई (उत) और (नग्ना बोभुवती) अपने नग्न रूप में बार २ मनुष्य में पैदा होता हुई (जनं) मनुष्य को (स्वप्नया सचसे) स्वप्न वृत्ति से आक्रान्त कर लेती है।

इस मन्त्र में अराति को स्वप्न लेने वाला बताया गया है। अराति (न + राति—रा दाने) अदान शक्ति को कहते हैं। राष्ट्र में तथा मनुष्य समाज में जब यह अराति की भावना फैल जाती है तो सारा राष्ट्र एक प्रकार से विनष्ट हो जाता है। इससे वैश्यों के अन्दर दान की भावना नहीं रहती। क्षत्रियों में

अत्याचार के सामने प्राण विसर्जन की भावना नहीं रहती। तथा ब्राह्मणों में ब्रह्म विद्या तथा भगवान् के प्रति आत्म-समर्पण की भावना नहीं रहती। एक प्रकार से सब मनुष्यों में अपने २ कर्त्तव्यों के प्रति अपने आप को होम देने की भावना का विनाश हो जाता है। मनुष्य चित्त में यह निश्चय करता है कि भगवान् को प्राप्त करना है और बार २ इसी बात का संकल्प करता है। परन्तु अन्दर जो यह अदान शक्ति बैठी है. यह मनुष्य को भगवान् के प्रति समर्पण नहीं करने देती। इस कारण चेतना व संकल्प बार बार होकर भी रह जाते हैं! आत्म-समर्पण क्रियात्मक रूप धारण करने नहीं पाता। इसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य आत्मसमर्पण का केवल ख्याली पुलाव ही बनाता रहता है। वह कभी क्रिया रूप में परिणत नहीं हो पाता। जब २ आत्मसमर्पण का अवसर आता है, तब २ वह अदानशक्ति अपने नग्नरूप में आकर खड़ी हो जाती है।

मनुष्य पूछ बैठते हैं कि तुम तो भगवान् के प्रति आत्म-समर्पण की बात कहते रहते थे, अब इस परीक्षा के समय क्यों नहीं आत्मसमर्पण किया ? यह अराति उस समय उस आत्म समर्पण के ख्याली पुलाव बनाने वाले मनुष्य से कोई न कोई बहाना बनवा देती है। इसी प्रकार.यह अराति मनुष्य को भगवान् के प्रति आत्म-समर्पण करने नहीं देती और वह मनुष्य आत्म-समर्पण के केवल ख्याली पुलाव में ही रह जाता है।

एक मन्त्र में स्वप्न के अन्दर खाया हुआ अन्न किसी भी

प्रकार के दुष्परिणाम को न पैदा करे, ऐसी प्रार्थना की गई है। मन्त्र इस प्रकार है—

यत्स्वप्ने अन्नमश्नामि न प्रातरधिगम्यते ।
सर्वं तदस्तु मे शिवं नहि तद् दृश्यते दिवा ।

अथर्व० ७।१०६।१

जो अन्न मैं स्वप्न में खाता हूँ। प्रातःकाल जगने पर वह नहीं दिखाई देता। वह स्वप्न में खाया हुआ अन्न कल्याणकारी हो।

इस मन्त्र से यह स्पष्ट है कि वेद स्वप्न को शिव व अशिव परिणाम वाला मानता है। इसकी विस्तृत विवेचना हम पुस्तक के दूसरे भाग में करेंगे।

अष्टम अध्याय

दुष्वप्न्य--विनाश

दुष्वप्न्य—विनाशनी उषा:--

१६ वें काण्ड के ५ वें सूक्त में बुरे स्वप्नों केनिवारणके लिये सरलतम उपाय यह बताया गया है कि हम बुरे स्वप्नों के स्थान पर अच्छे स्वप्न लेने लगें। इसका परिणाम यह होगा कि हम शनैः शनैः बुरे स्वप्नों पर विजय प्राप्त कर लेंगे।

परन्तु प्रश्न यह है कि अच्छे स्वप्नों का स्वरूप क्या है? और वे बुरे स्वप्नों पर किस प्रकार विजय प्राप्त कर सकते हैं? इन सब बातों पर अ. १६।६ सूक्त में प्रकाश डाला गया है। "दुष्वप्न्य-नाशन" के साथ उषा भी इस सूक्त का देवता माना गया है। उषा को इस सूक्त का देवता मानने के दो भाव हो सकते हैं। एक तो यह कि दुष्वप्न्यरूपी शत्रु पर विजय

की प्रभात वेला का चित्र खींचा गया प्रतीत होता है। क्योंकि विजय का उषःकाल पूर्ण विजय का विश्वास दिलानेवाला होता है। विजय की उषा नीहार कर मनुष्य और भी उत्साहित होकर पूर्ण विजय को प्राप्त कर लेता है।

इसलिये शत्रु पर पूर्ण विजय प्राप्त करने के लिये इस विजय के उषःकाल में हमारा क्या कर्तव्य होना चाहिये- यह प्रथम मन्त्र में संक्षेप में दिखा दिया है, जो कि इस प्रकार है—"अजैष्म" अर्थात् सब से प्रथम अपने अन्दर विजयी भावना पैदा करना। दूसरे "असनाम" शत्रु पर विजय के लिये शक्ति सञ्चय करना। तीसरे "अनागसः" अपनी न्यूनताओं को दूर करना। दुष्वप्न्यरूपी शत्रु को पूर्णतया विनष्ट करने के लिये सब से प्रथम हमें अपने अन्दर यह सकल्प बल पैदा करना चाहिए कि, हमने दुष्वप्न्यरूपी शत्रु पर अवश्य विजय प्राप्त करनी है।

यह संकल्प बल तभी पैदा हो सकता है और स्थिर रह सकता है, जब कि हम "असनाम" पूर्ण शक्तिसञ्चय कर लें। शत्रु पर विजय के लिये जो भी साधन सामग्री आवश्यक है, वह जुटा लें। तीसरे अपनी कमजोरियों पर भी दृष्टिपात कर लें। ऐसी हम में कोई भी कमजोरी नहीं होनी चाहिए, जिस से शत्रु को प्रहार करने मे का अवसर मिल जाये। इस प्रकार रणसज्जा करके विजय की उषाका ध्यान करते हैं, और उत्साहभरित हो यह प्रार्थना करते हैं कि, हे उषा! जिस दुष्वप्न्य से हम डरते हैं वह हम से दूर हो जाये। इस प्रकार की भावना मनुष्य में उत्साह व सकल्प बल को पैदा करने वाली होती है, जिस से

मनुष्य आसानी से शत्रु पर विजय प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार उषा को विजय की उषा मान कर इस सूक्त की व्याख्या की जा सकती है।

दूसरा भाव उषा का सामान्य प्राकृतिक उषा से लिया जा सकता है। हमने इस सूक्त में मुख्यतया उषा से सामान्य प्राकृतिक उषा का ही ग्रहण किया है। और इस उषाकाल के द्वारा दुष्वप्न्यों को किस प्रकार दूर किया जा सकता है यह दिखाने का प्रयत्न किया है। इस से पहले कि हम उषा से सम्बन्ध रखने वाले दुष्वप्न्य सम्बन्धी मन्त्रों की व्याख्या आपके सामने रक्खें-यह देखना आवश्यक है कि उषा किस प्रकार दुष्वप्न्यों को दूर कर सकती है।

एक तो रात्रिमें होने वाले दुष्वप्न्य रात्रि के प्रायः पिछले प्रहर में आते हैं। इस प्रकार प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त में उठने वाले व्यक्ति इन दुष्वप्न्यों से बच सकते हैं। दूसरे उषा काल में मनुष्य ही नहीं अपितु सभी प्राणियों की प्रकृति शान्त होती है। और उस समय सात्त्विक प्रकृति अन्य समयों की अपेक्षा ज्यादः प्रबल होती है। इसलिये दिवास्वप्नों को दूर करने का भी यह सर्वोत्कृष्ट समय है। पाप व दुष्वप्न्यादि दुर्गुण अन्धेरे में ज्यादः प्रबल होते हैं। उषा उनको हमारे समक्ष प्रकाश में ला देती है। इस लिये उषा अन्तर्निहित दुष्वप्न्यादि दुर्गुणों को प्रकाश में लाकर उनको विनष्ट करने में सर्वश्रेष्ठ साधन है। इसीलिये उषा से दुष्वप्न्यादि दुर्गुणों को दूर करने की प्रार्थना की गई है। वेद में भी उषा के बहुत गुण गाये

गये हैं। क्योंकि वेद में ज्ञान तथा प्रकाश को बड़ा महत्त्व दिया गया है। वेद नाम ही इस बात को सिद्ध कर रहा है कि वेद ज्ञान व प्रकाश के अतिरिक्त कुछ नहीं। इसलिये वेद की दृष्टि में जो पदार्थ प्रकाशस्तम्भ का कार्य करते हैं, वे सर्वोत्कृष्ट देव हैं। उषा भी प्रकाश का सन्देश लाने वालों में सब से प्रथम आती है, और सब को जगाती है। जैसा कि मन्त्रमें भी कहा है कि "ज्योतिर्विश्वस्मै भुवनाय कृण्वती" ऋ. १।९२।५ अर्थात् सम्पूर्ण भुवनों को वह उषा ज्योति दिखाती है। ऋ. १।९२।९ मन्त्र में भी उषा को ज्ञान व प्रकाश के फैलाने में बहुत ऊंचा स्थान दिया है, मन्त्र इस प्रकार है-

विश्वानि देवी भुवनाभिचक्ष्या प्रतीची चक्षुरुर्विया विभाति।
विश्वं जीवं चरसे बोधयन्ती विश्वस्य वाचमविदन्मनायोः॥

अर्थात् दिव्य प्रकाशयुक्त यह उषा समस्त लोकों को प्रकाशित करके पूर्व से पश्चिम को जाती हुई महान् सूर्य से प्रकाशित होती है। और समस्त प्राणिमात्र को चलने-फिरने तथा कार्यव्यवहार करने के लिये जगाती हुई समस्त मननशील भक्त व ज्ञानज्येष्ठ विद्वानों की स्तुति को प्राप्त करती है।

इस उपर्युक्त मन्त्र में उषा को समस्त लोकों को प्रकाश दिखाने वाली तथा उनके कार्यव्यवहार के लिये उन को जगानेवाली बताया है। और साथ में यह भी स्पष्ट कर दिया है कि, मननशील व भक्त पुरुष प्रातःकाल परमात्मा की स्तुति करते हैं।

उनकी वाणी पवित्र भावना से ओत-प्रोत होती है। इसलिये ज्ञान व प्रकाश को सर्वप्रथम सर्वत्र फैलाने वाली होने के कारण अन्धकार व अज्ञान में प्रबल होनेवाले दुष्वप्न्यादि दुर्गुणों पर सब से प्रथम यह उषा ही प्रहार करती है।

दूसरे अभूति आदि से होने वाले दुष्वप्न्यों के दूर करने में भी यह उषा बहुत सहायक है। क्योंकि यह उषा हमें अन्न प्रदान करती है। एक मन्त्र में कहा गया है कि—

उषस्तच्चित्रमाभरास्मभ्यं वाजिनीवति।
येन तोकं च तनयञ्च धामहे। (ऋ. १।९२।१३)

अर्थात् ऐश्वर्य तथा अन्न प्रदान करने वाली हे उषा! तू हमें संग्रह करने योग्य नाना भांति के ऐश्वर्य तथा अन्न प्रदान कर, जिस से हम पुत्रों तथा पौत्रों का पालन कर सकें।

इस मन्त्र में उषा को 'वाजिनीवती' अर्थात् अन्नादि ऐश्वर्य प्रदान करने वाली बताया है। ऊपर के मन्त्र में हमने उषा का ज्ञान व प्रकाश को देने वाला स्वरूप दिखाया था। अब यहां इस मन्त्र में उषा का अन्न को देने वाला रूप बताया गया है। प्रातःकाल आती हुई उषा ज्ञान व प्रकाश को ही नहीं देती, अपितु, वनस्पति ओषधि तथा अन्य प्राणियों को जीवन रस भी प्रदान करती है। इस लिये उषा से प्रार्थना की है कि. हे उषा। तू अन्न प्रदान करती है, आ! और इन वनस्पति, ओषधियों में जीवन-रस प्रदान कर, जिस से कि, हमारे पुत्रपौत्रादि दौर्भाग्य में न फंसे रहें। इस प्रकार ऐश्वर्य तथा नाना भाँति के अन्न प्रदान

करने के कारण अभूति आदि से होने वाले दुष्वप्न्यों के निरा-करण में यह उषा सर्वोत्कृष्ट साधन है। इस लिये उषा से प्रार्थना की है कि, वह हमारे दुष्वप्न्यों को दूर करे।

अब हम क्रमशः मन्त्रों पर विचार करते हैं:—

पाप-विनाश का सामूहिक प्रयत्न।

संकल्प-बल अर्थात् दुष्वप्न्य-विनाश के लिये शक्तिसञ्चय का आदेश।

१६ वें काण्ड के छठे सूक्त के १ मन्त्र में मनुष्य को अपने अन्दर संकल्प-बल पैदा करने का आदेश दिया गया है। मन्त्र इस प्रकार है—

अजैष्माद्यासनामाद्याभूमानागसो वयम्। (अथर्व. १६।६।१)

(अद्य) आज दुष्वप्न्यरूपी शत्रु पर हमने (अजैष्म) विजय प्राप्त करली है और (असनाम) जो कुछ प्राप्तव्य था वह प्राप्त कर लिया हैं, अथवा शक्तिसंचय कर लिया है। और (अद्य) आज (वयं) हम (अनागसः अभूम) निष्पाप हो गये हैं।

मन्त्र का भाव यह हुआ कि मनुष्य प्रायः ब्राह्ममुहूर्त में उठ कर अपने अन्दर इस प्रकार संकल्प बल पैदा करे।

क, अजैष्म-हम विजयी हो गये हैं, हमें शत्रु पराजित नहीं

कर सकता। इस प्रकार विजय की भावना अपने अन्दर भरना।

ख. असनाम- जो कुछ प्राप्तव्य था, वह हमने प्राप्त कर लिया है। इस प्रकार सकल्पबल को दृढ़ करना। इस का भाव यह भी हो सकता है कि ऊपर जो संकल्प की विजय दिखाई उस को असली विजय में परिणत करने के लिये शक्तिसञ्चय करना।

ग. अनागसः निष्पाप होना। प्राप्त वस्तुओं को स्थिर रखने के लिये आवश्यक है अथवा विजय की लड़ाई में निष्पाप होना शत्रु के वार को रोकने के लिये एक ढाल है।

दुष्वप्न्य पर प्रथम आक्रमण:—

द्वितीय मन्त्र में उषा के समक्ष दुष्वप्न्यरूपी शत्रुपर प्रथम आक्रमण किया गया है, मन्त्र इस प्रकार है।

उषो यस्माद्दुष्वप्न्यादभैष्माप तदुच्छतु। (अ. १६।६।२)

(उषः) हे उषा! (यस्मात्) जिस (दुष्वप्न्यात्) दुष्वप्न्य से (अभैष्म) हम डरते हैं (तद् अप उच्छतु) वह दूर हो जाये।

अर्थात प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त में उठ कर मनुष्य दुष्वप्न्य को इस प्रकार दुत्कारे कि तू दूर हो, तेरा यहां कोई स्थान नहीं-इत्यादि भर्त्सनापूर्वक वाक्यों से मनुष्य दुष्वप्न्य को दूर करने का प्रयत्न करे।

दुष्वप्न्य को शत्रु पर फैंकना:—

अगले दो मन्त्रों में एक ही बात की ओर निर्देश किया गया है। इस लिये दोनों पर हम इकट्ठा विचार करते हैं। मन्त्र इस प्रकार है—

द्विषते तत्परा वह शपते तत्परा वह। (अथर्व. १६।६।३)
यं द्विष्मो यच्च नो द्वेष्टि तस्मा एनद् गमयामः।
(अ. १६।६।४)

अर्थात् 'हे उषा! हम से द्वेष करने वाले के प्रति अथवा हमें कोसने वाले के प्रति उस दुष्वप्न्य को ले जा।

और जिस से हम द्वेष करते हैं और जो हम से द्वेष करता है, उस के प्रति हम इस दुष्वप्न्य को ले जाते हैं।

प्रथम मन्त्र में तो सामान्य रूप से यह कहा है कि, हे उषा! शत्रु (द्विषते, शपते) के प्रति उस दुष्वप्न्य को लेजा। परन्तु प्रश्न पैदा होता है कि, वह शत्रु कौन है? जिस के प्रति दुष्वप्न्य ले जाना है। इस के उत्तर में अगले मन्त्र में कहा कि, जिस से हम द्वेष करते हैं, और जो हम से द्वेष करता है, वह हमारा शत्रु है।

जो हम से द्वेष करते हैं और जिनसे हम द्वेष करते हैं, ऐसे हमारे शत्रु दो प्रकार के हो सकते हैं। एक तो हमारे अपने पाप, दूसरे मनुष्य। परन्तु यहां एक विचारणीय बात यह है कि, वैदिक आदर्श की दृष्टि से क्या कोई मनुष्य हमारा ऐसा

शत्रु हो सकता है, जिस के प्रति हम यह कामना करें कि वह दुष्वप्न्यों का शिकार बन जाये। किसी मनुष्य में दुष्वप्न्य पैदा करना उसे पापी बनाना है। क्या वेद ऐसी आज्ञा देता है? और यदि हम सूक्ष्मता से सोचें तो 'यं द्विष्मो यच्च नो द्वेष्टि' अर्थात् जिस से हम द्वेष करते हैं और जो हम से द्वेष करता है, यह अवस्था पाप आदि बुराईयों में ही घट सकती है, व्यक्तियों में नहीं। क्योंकि पाप और मनुष्य में तो स्वभावतः शाश्वतिक वैर है। कल्पना कीजिये कि एक मनुष्य है जिस से हम तो द्वेष करते हैं, और इतना अधिक द्वेष करते हैं, कि मानों हमारा सब से बड़ा शत्रु वही है; परन्तु वह मनुष्य हम से द्वेष नहीं करता। तो ऐसी अवस्था में 'यं द्विष्मो यच्च नो द्वेष्टि' यह मन्त्र तो हमें आज्ञा नहीं देता कि, हम उस पर दुष्वप्न्य फैंके। और फिर सम्भव है कि, वह सन्त पुरुष हो, और वह हमारे पापों से द्वेष करता हो, हम यह समझ कर कि वह हम से द्वेष करता है, उस से द्वेष करने लगें और फिर अपना दुष्वप्न्य उस पर फैंकना चाहें तो क्या वेद हमें उस सन्त पर दुष्वप्न्य फैंकने की आज्ञा देगा?

सन्त पुरुष सदा किसी मनुष्य की पाप व हीन प्रवृत्तियों से तो द्वेष करता है, उस के व्यक्तित्व से नहीं। इस लिये यह मन्त्र ऐसी अवस्था में भी एक दूसरे के ऊपर दुष्वप्न्य फैंकने की आज्ञा नहीं देता। कल्पना कीजिये दो दुष्ट आदमी हैं, आपस में एक दूसरे के बड़े भारी शत्रु हैं और दोनों ही दुष्वप्न्यों के शिकार हैं। यदि वे एक दूसरे को दुष्वप्न्य का शिकार

बनाना चाहें, तो क्या वेद की ऋचाएं ऐसे दुष्ट मनुष्यों की मनो-कामनाओं को पूर्ण करने वाली हैं ? कभी नहीं। क्योंकि वेद ने तो पहले ही मन्त्र में कहा कि-"अभूमानागसो वयम्" अर्थात हम निष्पाप हैं। दुष्ट पुरुषों के लिये ये ऋचाएं नहीं हैं. वे तो दोनों ही विनष्ट होने चाहियें। और फिर प्रजा में बहुतायत साधारण नागरिकों की होती है और वे आर्य होते हुवे भी इतने ऊंचे नहीं होते कि किसी से उन का द्वेष न हो यदि वे परस्पर एक दूसरे के प्रति यही कामना करने लगें, तो राष्ट्र में विक्षोभ, विप्लव व अशान्ति ही मची रहे। दुष्वप्न्य दूसरे पर फैंकने का सामान्य भाव यह है कि जिन आधि व व्याधि से हम पीड़ित हैं, उन से अपना उद्धार कर उन में दूसरे को डाल देना।

यदि इस मन्त्र पर और सूक्ष्मता से विचार करें तो हमें यह पता चलेगा कि, यहां व्यक्ति और समाज का झगड़ा है। जसा कि मन्त्र के 'यः = अस्मान् यं = वयम्' एक वचन और बहुवचन इस बात को सिद्ध कर रहे हैं कि एक तो समाज है जो कि प्रथम मन्त्र के आधार पर निष्पापियों का समाज है, दूसरी तरफ व्यक्ति है, जो कि समाज से द्वेष करता है। दुष्व-प्न्यों पर विजय चाहने वाले निष्पापियों के समाज से द्वेष करने का मतलब यह है कि, वह व्यक्ति स्वयं पापी है, और उन्नति नहीं करना चाहता। ऐसे पापी मनुष्य के प्रति दुष्वप्न्य भेजना किसी हद तक युक्तिसंगत हो सकता है। परन्तु जैसा कि मैंने सब सूक्तों का संक्षिप्त भाव दिखाते हुए एक विचार रक्खा है कि समाज के विरोधी पापी व्यक्ति में दुष्वप्न्य भेजना

उसके सुधार का प्रथम सोपान है—तो ऐसी अवस्था में व्यक्ति में दुष्वप्न्य भेजना युक्तिसङ्गत हो सकता है। वास्तव में मुख्य-रूप से इन मन्त्रों में दुष्वप्न्यादि मानसिक शत्रुओं का ह। वर्णन है। ये हमेशा मनुष्य को पतित करते हैं। इस लिये इनके विनाश के लिये मनुष्य को सदा प्रयत्न करते रहना चाहिये। मन्त्र में जो ये कहा कि 'हे उषा! शत्रु के प्रति तू दुष्वप्न्य भेज दे। इस का भाव यह है कि जिन दोषों के कारण यह दुष्वप्न्य हमें आ लगा है, वह हम से हट कर उनके ही पास जा पहुंचे। यह इस तरह हा सकता है कि, प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त में उठ-कर संकल्प बल को दृढ बनाना और दुष्वप्न्य को पैदा करनेवाली बुराईयों पर प्रहार करना- दुष्वप्न्यविनाश के लिये यह एक सर्वश्रेष्ठ प्रयत्न है।

उषा और वाक् का सम्मीलन।

आगे उषा और वाग् दोनों मिलकर दुष्वप्न्य का विनाश करते हैं- यह निम्न मन्त्रों में दर्शाया गया है। मन्त्र इस प्रकार है।

उषा देवी वाचा संविदाना वाग्देव्युषसा संविदाना। (अथर्व. १६.६।५)

उषस्पतिर्वाचस्पतिना संविदानो वाचस्पतिरुषस्पतिना संविदानः।
(अ. १६।६।६)

तेऽमुष्मै परावहन्त्वरायान् दुर्णाम्नः सदान्वाः। (अ. १६।६।७)

कुम्भीकाः दूषीकाः पीयकान्। (अ. १६।६।८)

जाग्रद् दुष्वप्न्यं स्वप्नेदुष्वप्न्यं। (अ. १६।६।६)

अर्थात् दिव्य गुणयुक्त उषा वाग्देवी से मिली हुई हो और वाग्देवी उषा से मिली हुई हो। उषा का पति सूर्य वाचस्पति से मिला हुआ हो और वाचस्पति उषा के पति से मिला हुआ हो। वे सब उषा, वाक्, उषस्पति और वाचस्पति आदि इस मनुष्य में से ऐश्वर्य आदि के अभाव से होनेवाले कष्टों, बुरे नामवाले अथवा अर्श आदि रोगों और सदा चिल्लानेवाली पीडाओं, कुम्भीकाओं, दूषीकाओं तथा अन्य हिंसा करने वाली व्याधियों को दूर करें। अब क्रमशः हम मन्त्रों के अर्थों को स्पष्ट करते हैं।

५ वें मन्त्र में कहा गया है कि, दिव्यगुणयुक्त उषा वाग्देवी से मिली हुई हो। हम पहले देख ही चुके हैं कि, उषा के अन्दर बड़े दिव्य गुण हैं. क्योंकि यह उषा सब से प्रथम ज्ञान व प्रकाश का सन्देश लाती है। अपने साथ ही वनस्पति, ओषधि जीवजन्तु सभी प्रकार के प्राणियों के लिये वह जीवनदायिनी प्राणसंचारिणी शक्ति को साथ लाती है। और साथ ही सब के मनों को पवित्र करती चली जाती है। वेद कहता है कि, ऐसी दिव्यगुणयुक्त उषा से हम तभी पूर्णतया लाभ उठा सकते हैं तथा दुष्वप्न्यादि दुर्गुणों को दूर कर सकते हैं जब कि, उषा के साथ वाक् अर्थात ज्ञान का सम्बन्ध हो।

इस उषा काल में वाग्देवी अर्थात परस्पर दिव्य वाणी बोलें, गन्दे तथा अशुद्ध विचारों से परिपूर्ण कुवचनों को न बोलें। उषाकाल में हमें निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिये।

१. जब उषाकाल की वेला पवित्र विचार तथा दिव्य वाणी से युक्त होगी, तो उसका दिन के अवशिष्ट जीवन पर अवश्य ही प्रभाव पड़ेगा ! हमारे विचार शुद्ध होंगे, हम छल, कपट तथा असत्य व्यवहार आदि करने से संकोच करेंगे। ऐसी अवस्था में दुष्वप्न्यादि दुर्गुणों का होना असम्भव है।

२. दूसरे प्रभातवेला को हम यदि वाग्देवी अर्थात् दिव्य-ज्ञान के उपार्जन में लगावें, तो ज्ञानोपार्जन अच्छा होगा, हमारी स्मृति शक्ति बढ़ेगी, और पवित्र विचार होने के कारण ज्ञान भी श्रेष्ठ होगा। उस अवस्था में हम कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय बहुत ही अच्छी तरह से कर सकते हैं। ऐसी अवस्था में भी दुष्वप्न्य आदि दुर्गुणों को हम सुगमतया दूर कर सकते हैं।

३. तीसरे इस उषाकाल में अर्थात् ब्राह्ममुहुर्त में वाग्देवी अर्थात् सृष्टि, स्थिति प्रलयकर्ता, सर्वनियंता परब्रह्म के प्रति दिव्यवाणी, दिव्य स्तोत्र से उसकी स्तुति करें। वह अग्निपुञ्ज तथा तेजःस्वरूप परमात्मा हमें श्रेष्ठ मार्ग पर ले जायेगा और हमारे दुष्वप्न्यादि सब प्रकार के दुर्गुणों को भस्मीभूत कर देगा।

४. जीवन प्रवाह में जो उषाकाल आता है, उसका सम्बन्ध दिव्य वाणी, दिव्यज्ञान के उपार्जन केसाथ होना चाहिए। अर्थात राष्ट्र में राजा का यह कर्तव्य है कि, उषाकाल में वर्तमान जितने भी राष्ट्र के बच्चे हैं, वे सब ज्ञानोपार्जन करें। और वह ज्ञान दिव्य ज्ञान होना चाहिये। जब बचपन से ही मनुष्य को

श्रेष्ठ मार्ग पर ले जाया जायगा तथा दिव्य ज्ञान दिया जाएगा, तो दुष्वप्न्यादि दुर्गुणों का न होना स्वाभाविक है।

आगे कहा कि दिव्य गुणयुक्त वाक् उषा से मिली हुई है। यहां एक शंका पैदा होती है कि, इन दोनों कथनों 'दिव्यगुणयुक्त उषा वाक् से मिली हुई हो' और 'दिव्यगुणयुक्त वाक् उषा से मिली हुई हो-' में कोई विशेष भेद प्रतीत नहीं होता। परन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से इन पर विचार करें तो इन में बहुत भेद है। इसको हम संक्षेप में इस प्रकार कह सकते हैं कि, एक स्थल पर उषा साध्य है और वाक साधन है। और दूसरे स्थल पर वाक् साध्य है तो उषा साधन है। अर्थात् मन्त्र के प्रथम भाग में उषा को दिव्य बनाने का विधान किया गया है। इसके लिये साधन यह बताया कि वाणी व ज्ञान से उषा का सम्बन्ध करो तो उषा दिव्य बन जायेगी। इसी प्रकार वाक् को दिव्य बनाने के लिये उषा को साधन-रूप में दर्शाया गया है। इस प्रकार उषा और वाग् अन्योन्याश्रित हैं। इसी अन्योन्याश्रितता के भाव को मन्त्र में दर्शाया गया है। दूसरा भाव यह भी हो सकता है कि, जिस प्रकार उषा अन्धेरे को दूर कर प्रकाश फैलानेवाली तथा वनस्पति-ओषधियों द्वारा जीवन-रस प्रदान करनेवाली है, उसी प्रकार हमारी वाग् भी अज्ञानान्धकार को दूर करनेवाली होनी चाहिये और जीवनविनाशिनी न होकर जीवनदायिनी होनी चाहिये। आधुनिक पश्चिमी जगत् की वाग् (ज्ञान) जीवनदायिनी नहीं है, अपितु जीवनविनाशिनी बनी हुई है। इसी प्रकार उषा-काल को हमें दिव्य बनाना चाहिये, अर्थात् उषाकाल

हमें सुमार्ग में प्रेरित करने वाला होना चाहिये। इसका साधन है कि, केवल वाक् नहीं, अपितु दिव्य वाक् का उसके साथ संबंध हो। आगे छठे मन्त्र में कहा गया है कि 'उषस्पति' अर्थात् सूर्य वाचस्पति के साथ मिला हुआ हो।

ऊपर हम ने उषा और वाक् के सम्बन्ध में बताया है। यहाँ पर उषस्पति और वाचस्पति के सम्बन्ध में कुछ कहना है। यहाँ एक बात का और ध्यान रखना चाहिये कि सूर्य को यहाँ उषस्पति के रूप में दर्शाया है. इस में भी एक रहस्य है। जिस प्रकार उषा अन्धकार को दूर कर सर्व-प्रथम प्रकाश का सन्देश लानेवाली है और सब को जगा कर कार्य में प्रेरित करनेवाली है, तथा जीवनदायिनी और प्राणसंचारिणी रश्मियों को सब पर बरसाने वाली है, उसी प्रकार उषस्पति से भी प्रार्थना है कि वह अमुक अमुक पदार्थ हमें देवे। अब यहां पर उषस्पति तथा वाचस्पति का सम्बन्ध क्या बताता है, यह देखना है। यहांपर हमारी सम्मति में उषस्पति और वाचस्पति का सम्बन्ध राष्ट्र में करने योग्य कुछ बातों की ओर निर्देश करता है।

उषा और वाक् का सम्बन्ध तो प्रत्येक व्यक्ति की ओर निर्देश करता है और यह शिक्षा देता है कि उषाकाल में प्रत्येक मनुष्य को दुष्वप्न्यादि दुर्गुणों को दूर करने के लिये अमुक अमुक कार्य करने चाहियें। परन्तु उषस्पति और वाचस्पति का संबंध राष्ट्र में सामूहिक रूप से आज्ञा देकर अमुक अमुक कार्य करवाने की ओर निर्देश कर रहा है। जिस प्रकार

ब्रह्माण्ड में उषस्पति अर्थात् सूर्य उषा के ऊपर नियन्त्रण रखकर उषा के द्वारा सब कार्य करवाता है, उसी प्रकार वाचस्पति का कर्तव्य है कि वह भी उषस्पति के समान प्रजा में दिये जानेवाले ज्ञानपर नियंत्रण रखकर उचित ज्ञान का प्रसार करवावे। अर्थात् प्रजा को विपरीत ज्ञान न पहुंचे, इसके ऊपर वह अच्छी तरह से नियन्त्रण रखे। इस का भाव यह है कि वाचस्पतिने प्रजा में से दुष्वप्न्य आदि दुर्गुण दूर करने के लिये उषस्पति सूर्य को अपना सहायक बनाया हुआ है। वह उषस्पति के द्वारा प्रजा को तरह तरह के लाभ पहुँचाता है अर्थात् सूर्य को अपने नियन्त्रण में रखकर वह प्रजा को लाभ पहुँचाता है। इसी बात को मन्त्र में इस प्रकार कह दिया कि उषस्पति वाचस्पति से जा मिला। आगे कहा है कि-

'अब वाचस्पति उषस्पति अर्थात् सूर्य से मिला हुआ हो।'

इस का भाव यह है कि, वाचस्पति राष्ट्र में उषस्पति अर्थात् सूर्य द्वारा प्रजा का भला तभी कर सकता है, जब कि वह उषस्पति से मिला हुआ हो। अर्थात् उषस्पति सूर्य के समान हो। जिस प्रकार ब्रह्माण्ड में सूर्य का स्थान है, वही राष्ट्र में वाचस्पति का है। वाचस्पति को यह चाहिये कि जिस प्रकार सूर्य ब्रह्माण्ड में प्रकाश, ज्ञान तथा जीवनदायिनी रश्मियों को फैलाकर अपना कार्य करता है, उसी प्रकार वाचस्पति भी राष्ट्रमें प्रकाश फैलावे। अज्ञान को दूर कर ज्ञान का प्रसार करे। इस प्रकार अपनी नियमरूपी रश्मियों को फैलाकर राष्ट्र में नवस्फूर्तिदायक प्राणसंचार कर दे। यह तभी कर सकता है जब कि वह उषस्पति सूर्य से मिला हुआ हो। अर्थात् उस

से रातदिन शिक्षा लेता हो । उस के समान अपने को बनाये हुए हो । जो वाचस्पति उपस्पति से मेल नहीं करता अर्थात् उस के समान नियमों का पालन नहीं करता, वह राष्ट्र की प्रजा में से दुष्वप्न्य आदि दुर्गुणों को दूर नहीं कर सकता। यहाँ पर 'संविदानः' के दो अर्थ हो सकते हैं। एक तो भली प्रकार ज्ञान प्राप्त करना (सं-विद् ज्ञाने), दूसरा भली प्रकार लाभ प्राप्त करना (विद्लृ लाभे) इस प्रकार मन्त्र का सामान्य भाव यह हो सकता है कि, उपस्पति सूर्य वाचस्पति से मिला हुआ है अर्थात् प्रजा का भला करने में वाचस्पति का सहायक बना हुआ है । और वाचस्पति भी प्रजा का भला तभी कर सकता है जब कि वह उपस्पति से मिला हुआ हो । अर्थात अपने को उस के समान गुणोंवाला व सामर्थ्य-वाला बनावे और उस से ज्ञान प्राप्त करे ।

इस प्रकार वाचस्पति उपस्पति सूर्य के द्वारा प्रजा को लाभ पहुंचा कर तथा अपने को उस के समान बनाकर प्रजा पर नियन्त्रण रख कर दुष्वप्न्यादि दुर्गुणों को दूर कर सकता है ।

आगे ७ वें मन्त्र में कहा कि ये सब उषा, वाग्देवी, उपस्पति और वाचस्पति इस मनुष्य में से अरायों, दुर्नामों आदि को दूर करें । अब ये अराय आदि क्या हैं, इस पर संक्षेप से प्रकाश डालते हैं । ये अराय आदि मानसिक तथा शारीरिक दोनों प्रकार के कष्ट हैं ।

१ अरायान्- ऐश्वर्य आदि के अभाव से जो मानसिक तथा शारीरिक दोनों प्रकार के कष्ट हैं ।

२-दुर्नामा--दुर्नाम के निम्न अर्थ हो सकते हैं।

(दुर्नामा) दुरं दुष्टं नाम यस्य दुर्णामा क्रिमिर्भवति पापनामा
(निरु. ६।१२)

पापनामा पापप्रदेशे नतः परिणतः उत्पन्न इति देवराज यज्वा अथवा नाम उदकम् (निघं. १।१२) अतिक्रूररोगः दुर्नाम अर्शो रोग इति शब्दकल्पद्रुमः ।

अर्थात् दुर्नाम के अर्थ दो हो सकते हैं ।

(अ) एक तो बुरे नामादि से सम्बोधन करना अर्थात दुर्वचन कहना गाली गलौच आदि देना।

(आ) दूसरे शारीरिक रोग अर्श आदि का होना ।

३ सदान्वा १. सदा कासते रहना ।

२. सदा चिल्लाने वाली शारीरिक पीड़ायें ।

४ कुम्भीका १ घड़े के समान अभिमान से कुप्पा बना देने वाली वृत्ति ।

२. घड़े के समान पेट को फुला देने वाली शारीरिक व्याधि जलोदर आदि ।

अगले मन्त्र में कहा है कि जागते हुए हम जो बुरे २ स्वप्न लेते हैं अथवा सोते हुए बुरे २ स्वप्न देखते हैं, इन सब को

उषा, उषस्पति आदि दूर करें।

अगला मन्त्र इस प्रकार है—

अनागमिष्यतो वरानविचोः संकल्पानमुच्या द्रुहः पाशान्। तदमुष्मा अग्ने देवाः परावहन्तु वध्रिर्यथासद् विथुरो न साधुः॥
(अ. १६, ६, १०-११)

अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषों को न आने वाले अविचित्ति के संकल्पों को तथा न छूटने वाले द्रोह के पाशों को–इत्यादि–उपर्युक्त सब बातों को, हे अग्ने! ये उषा आदि देव, पापरूप स्वप्न आदि के लिये फैंके, जिस से कि वह व्यर्थ का स्वप्न बधिया हो जाये। साधु स्वप्न बधिया न हो।

आगे ऋग्वेद के कई मन्त्रों में त्रित, द्वित आदि में से दुष्वप्न्य को दूर करने के लिये उषा से प्रार्थना की गई है। ये त्रित द्वित आदि क्या हैं? इनका विस्तृत विवेचन तो अन्यत्र ही किया जायेगा। परन्तु दुष्वप्न्य को दूर करनेमें त्रित, द्वित आदि क्या हो सकते हैं, यह हम स्पष्ट करनेका प्रयत्न करते हैं।

यास्क ४।६ में इस प्रकार आता है– त्रितस्तीर्णतमो मेधया बभूव। अपि वा संख्यानामैवाभिप्रेतं स्यात् एकतो द्वितस्त्रितः इति त्रयो बभूवुः। अर्थात् मेधा से तीर्णतम को त्रित कहते हैं। अथवा त्रित का यहां संख्या से अभिप्राय है। एकत, द्वित और त्रित ये तीन थे इन में से तीसरा त्रित है। और ६।२५ में त्रित की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है—"त्रितः त्रिस्थानः" अर्थात् तीन

स्थानों में पहुंचे हुए को त्रित कहते हैं। वेद में ये तीनों आप्त्य कहे गये हैं। अब इन व्युत्पत्तियों के आधार पर आप्त्य त्रित कौन है, यह निर्णय करते हैं।

त्रित आप्त्य--

पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक इन तीनों में व्याप्त होता हुवा भी आप्त पुरुषों की अन्तरात्मा में निवास करने वाला वह परमात्मा त्रित आप्त्य कहला सकता है। इस व्युत्पत्ति के आधार पर मन्त्र का अर्थ इस प्रकार हो सकता है।

> यच्च गोषु दुष्वप्न्यं यच्चास्मे दुहितर्दिवः। त्रिताय
> तद्विभावर्याप्त्याय परावहानेसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः
> (ऋ. ८।४७।१४)

हे "(दुहितर्दिवः) उषा, (यत् गोषु दुष्वप्न्यं) जो हमारी इन्द्रियों व गौओं में दुष्वप्न्य है (यच्च अस्मे) और जो हमारे में है। हे (विभावरि) विशेष दीप्तिवाली उषा, (तत्) वह दुष्वप्न्य तू (त्रिताय आप्त्याय) तीनों लोकों में विद्यमान तथा आप्त पुरुषों की अन्तरात्मा में प्रकाशित होने वाले परमात्मा की प्राप्ति के लिये (परा वह) दूर कर, तुम्हारी रक्षाएं पापरहित हैं और उत्तम हैं।

यहाँ पर परमात्मा को 'त्रित आप्त्य' रूप में स्मरण करने का भाव यह है कि, उषाकाल में परमात्मा के सर्व व्यापकता के रूप को स्मरण करके मनुष्य यह सोचे कि मेरे सब दुष्कर्मों

दुःसंकल्पों को वह देख रहा है, इनका मुझे वह दण्ड देगा, तो मनुष्य आसानी से इन दुष्वप्न्यों को छोड़ देता है। और फिर मनुष्य यह भी सोचता है कि सर्वत्र व्यापक होता हुआ भी परमात्मा यदि कहीं दृष्टिगोचर हो सकता है तो वह आप्तपुरुषों की अन्तरात्मा में ही हो सकता है। इस लिये उस सर्वव्यापक प्रभु के दर्शन करने के लिये मुझे भी आप्तपुरुष बनना चाहिये। इस प्रकार सोचकर वह मनुष्य दुष्वप्न्यों को छोड़ देता है।

त्रित आप्त्य का दूसरा भाव यास्काचार्य के अनुसार यह हो सकता है कि मेधा शक्ति में तीर्णतम तथा आप्त पुरुषों की श्रेणी में आने योग्य। इस लिये त्रित आप्त्य बनने के लिये यह आवश्यक है कि, आलस्य आदि दुष्ट स्वप्न के सब दोषों को दूर किया जाये। इस लिये उषा से प्रार्थना की गई है कि, हम में से दुष्वप्न्यादि दुर्गुणों को दूर करके हमें मेधाशक्तिसम्पन्न तथा आप्त पुरुषों के योग्य बना।

महर्षि दयानन्द ने त्रित का एक अर्थ मन वाक् और कर्म यह किया है। दुष्वप्न्य के प्रकरण में यह भी बहुत सुन्दर रूप में घटता है। मन से हम दुष्वप्न्य लेते हैं, वाणी से उच्चारण करते हैं। और कर्म से हम उस को क्रिया में परिणत करते हैं। इस प्रकार दुष्ट स्वप्न इन तीनों में निवास करता है। इन तीनों में से दुष्वप्न्य निकालने के लिये यह आवश्यक है कि, हम मन, वाक् और कर्म इन तीनों को आप्त पुरुषों के योग्य बनावें।

अथवा आप्त्य का अर्थ आप्लृ-व्याप्तौ धात्वर्थ के आधार पर व्यापक करने पर भाव यह होगा कि, इन तीनों को हम अपने २

कार्य क्षेत्र में व्यापक बनावें। इस कार्य में प्रेरणा उषा अच्छी प्रकार कर सकती है।

इसी प्रकार त्रित के और भी अनेकों अर्थ हो सकते हैं। अगला मन्त्र इस प्रकार है--

निष्कं वा घा कृणवते स्रजं वा दुहितर्दिवः। त्रिते दुष्ष्वप्न्यं सर्वमाप्त्ये परिदद्मसि० ॥

(ऋ० ८।४७।१५)

"(निष्कं वा कृणवते) सुवर्णाभरण को धारण करने वाले तथा (स्रजं वा) माला आदि धारण करने वाले के लिये जो हमारे अन्दर (दुष्वप्न्यं) बुरे विचार पैदा होते हैं। (दुहितर्दिवः) हे उषा, (सर्वं) उन सब दुष्वप्न्यादियों को (त्रिते आप्त्ये) तीनों लोकों में विद्यमान तथा आप्तपुरुषों के हृदय में प्रकट होने वाले परमात्मा के प्रति (परिदद्मसि) सुपुर्द कर देते हैं।"

इस मन्त्र में मनुष्य में दुष्वप्न्य पैदा करने वाले दो कारण बताये गये हैं। एक स्वर्ण के आभूषणों का धारण करना और दूसरा माला आदि धारण करना। स्वर्ण के आभूषणों को धारण करना तो एक उपलक्षण है। इसका भाव यह है कि, जिस मनुष्य के पास ऐश्वर्य आदि प्रभूत मात्रा में होता है, वह दूसरों में ईर्षा आदि पैदा करने में कारण बनता है! अन्य मनुष्य उसके ऐश्वर्य को हथियाने के लिये सदा षड्यन्त्र सोचते रहते हैं। इसी प्रकार दुष्ट स्वप्नों को पैदा करने वाला

दूसरा कारण माला आदि धारण करना बताया है। माला आदि भी यहां कृत्रिम सौन्दर्य के उपलक्षण हैं। अर्थात गन्ध, तैल व फुलेल आदि लगा कर और अपने को माला आदि द्वारा खूब सजाकर जो मनुष्य व स्त्रियां बाहिर आम मनुष्यों में निकलती हैं, वे साधारण मनुष्यों के मनों में विक्षोभ पैदा करने वाली होती हैं। इनको देखकर मनुष्य के मन का पतित होना स्वाभाविक है। इन दोनों को विनाश करने का उपाय वेद में त्रित आप्त्य के प्रति अपने दोषों को स्वीकार करना बताया गया है। अगला मन्त्र इस प्रकार है—

> तदन्नाय तदपसे तं भागमुपसेदुषे। त्रिताय च द्विताय चोषो
> दुष्वप्न्यं वह॰॥ (ऋ॰ ८।४७।१६)

अर्थात् उस अन्न के लिये, उस कर्म के लिये, अथवा उस भाग को प्राप्त करने के लिये, जो हम दुष्वप्न्य लेते हैं, हे उषा! तत्तत्सम्बन्धी वह दुष्वप्न्य तू त्रित और द्वित के लिये दूर कर।

त्रित द्वित और एकत इन तीनों का क्या स्वरूप है और इन का परस्पर क्या सम्बन्ध है, इत्यादि बातें अभी विचारणीय हैं।

नवम—अध्याय

दुष्वप्न्यों को पाशों में बांधना :—

१६ वें काण्ड के ५ वें सूक्त में दुष्वप्न्य के जो कारण बताये गये हैं वे सब राष्ट्र व समाज की व्यवस्था पर निर्भर करते हैं। इसलिये इस सूक्त का सम्बन्ध राष्ट्र व समाज से हैं। सूक्त में भी प्रत्येक मन्त्र के प्रारम्भ में कहा गया है कि, 'विद्म ते स्वप्न जनित्रम्' अर्थात् हे स्वप्न! हम तेरी उत्पत्तिको जानते हैं। यहां 'विद्म' यह बहुवचन का प्रयोग इस बात का द्योतक है कि राष्ट्र व समाज की तरफ से यह प्रबन्ध होना चाहिये कि राष्ट्र व समाज का प्रत्येक व्यक्ति ग्राही, अभूति आदिके दुष्परिणामों को जानता हो। और ये अभूति, निर्भूति आदि भी किसी एक व्यक्ति के कर्मों का परिणाम नहीं है। यह तो राष्ट्र व समाज के नियमों का परिणाम है। इसलिये जो दोष व न्यूनताएं मनुष्य में राष्ट्र की अव्यवस्था के कारण आती हैं, उन को दूर करना राष्ट्र का कर्तव्य है। मनुष्य में

दुष्वप्न्य का पैदा होना स्वाभाविक है । प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी प्रकार इस का शिकार हो ही जाता है । इसलिये सब को मिलकर इस को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये । वेद भी 'विघ्न' इस बहुवचन के प्रयोग से यही बताता है ।

अगले सूक्त का भाव यह है कि राष्ट्र-नियमों की अव्यवस्था के कारण जो ग्राही, अभूति, निर्भूति आदि समाज में प्रवेश करके दुष्परिणामों को पैदा कर रही थीं, उन पर सबने मिलकर विजय प्राप्त कर ली । राष्ट्र व समाज में से अव्यवस्थाए दूर कर दीं, और जो व्यवस्थाएं लानी चाहिये थीं वे लायी गयीं । अभूति आदि पर विजय प्राप्त करने तथा नयी व्यवस्थाएं पैदा करने के लिये आवश्यक यह है कि सब निष्पाप होवें । इसीलिये मन्त्र में कहा कि 'अभूमानागसो वयम्' अर्थात् हम निष्पाप हो गये हैं । ऐसी निष्पापियों की समाज में ता प्रत्येक व्यक्ति को आना चाहिये । जो इन निष्पापियों की समाज में नहीं आता है, वह इनका शत्रु पापी व्यक्ति ही हो सकता है । ऐसे व्यक्ति का तो राष्ट्र व समाज का कोई भी लाभ नहीं मिलना चाहिये । जहां ऐसी सांझी उन्नति का विचार पैदा होगा वहां स्वार्थी व पापी मनुष्य उन से (द्विषते) द्वेष करेगा और उन्हें (शपते) कोसेगा। ऐसे स्वार्थी व पापी मनुष्य के लिये वेद आज्ञा देता है कि—

'द्विषते तत्परावह शपते तत्परावह ।'
'यं द्विष्मो यच्च नो द्वेष्टि तस्मा एनद् गमयामः'

(अथर्व १६, ६, ३-४)

अर्थात् उस पापी मनुष्य के लिये हम दुष्वप्न्य भेजते हैं। इसका भाव यह है कि उस द्वेष करने वाले व कोसने वाले व्यक्ति में दुष्वप्न्य पैदा करने के लिये उसे हम (अभूति) गरीब रखें और यदि वह ऐश्वर्यवान् हो तो उसके सब ऐश्वर्य को हम (निर्भूति) छीन लें और पग पग पर उसका पराभव करें। उसे (निर्ऋति) सब प्रकार का कष्ट देवें।

परन्तु क्या वेद का पापी मनुष्य के लिये यही अन्तिम आदेश है ? क्या किसी पापी मनुष्य में भी दुष्वप्न्य पैदा करना वेद को अभीष्ट है ? अगले सूक्तों को देखने से प्रतीत होता है कि, वेद पापी मनुष्यों को यहीं नहीं छोड़ता वह उस को सुधारने की आज्ञा देता है। परन्तु सुधारने से पहिले अभूति, निर्भूति आदि के दुष्परिणामों को उसे अवश्य भोग लेना चाहिये। जब तक वह इनके दुष्परिणामों को नहीं भोगता, तब तक उस के सुधरने की आशा कम है। इसलिये अगले सूक्त के प्रथम मन्त्र में ऐसे स्वार्थी व पापी मनुष्य को अभूति आदि द्वारा बींधने की आज्ञा दी गई है। मन्त्र में कहा है कि, मैं ऐसे स्वार्थी व पापी मनुष्य को अभूति आदि से बींधता हूं। अर्थात् जो गरीब है, उसे गरीब ही रहने देता हूँ और जो ऐश्वर्यवान् है, उस से (निर्भूति) ऐश्वर्य छीन लेता हूँ।

इतने पर भी जो नहीं मानता, उस का पग पग पर पराभव करता हूँ। या तो उसे चिंता आदि ग्राही आ लगती है, अन्यथा उसको (ग्राही) हथकड़ी व बेड़ियों द्वारा जकड़ लेता हूं। और फिर उसे (तमस्) अन्धकार अर्थात दुनिया

से पृथक् करके कैदखाने में डाल देता हूँ। इस के अनन्तर सुधार के लिये देवपुरुषों के सामने लाता हूँ। वे इसे झिड़कते हैं, दुत्कारते हैं और पापों व दुष्वप्न्यों को त्यागने के लिये घोर व क्रूर आज्ञाएं देते हैं। जो अपराधी इन देवपुरुषों की भी परवाह नहीं करता, उसे वैश्वानर पुरुष के सामने पेश करता हूँ। वैश्वानर पुरुष वह होता है जो अच्छे व बुरे सभी मनुष्यों का बिना किसी पक्षपात के भला करता है। इस वैश्वानर पुरुष पर सब अच्छे व बुरे मनुष्यों का विश्वास होता है। ऐसे वैश्वानर पुरुष की प्रेरणा से बुरे आदमी के सुधरने की बहुत सम्भावना है।

वह उसे सुधारने के अनेकों उपाय करता है और उस पापी में यह आत्मग्लानि पैदा कर देता है कि. ये सब श्रेष्ठ व निष्पाप मनुष्य मुझ से द्वेष करते हैं, मैं कितना पतित हूं। इस प्रकार आत्मग्लानि के पैदा होने पर उसे 'सुयामन् और चाक्षुष' मनुष्य के पास सुधार के लिये भेजा जाता है। वह उस पर नियन्त्रण रखकर बुरी आदतों को दूर करता है और श्रेष्ठ मार्ग बताता है, अच्छे व बुरे में विवेक करने की दृष्टि देता है। उस सुयामन तथा चाक्षुष चिकित्सक के मानसिक चिकित्सालय (Mental Hospital) में रह कर वह पापी शनैः शनैः सुधरता है। जिस समय भी उस पर दुष्वप्न्य का प्राबल्य हो, उस समय उचित उपायों द्वारा उसे दूर किया जाता है। अन्त में वह दुष्वप्न्य इतना क्षीण शक्ति हो जाता है कि उस की पसलियां तोड़ने व मारने की मन्त्र में आज्ञा दी गई है।

आगे ८ वें सूक्त में भिन्न भिन्न प्रकार के दुष्वप्न्य लेने वालों को भिन्न भिन्न सुधारकों के पाशों में जकड़ा गया है। जो जिस प्रकार के पाश से सुधर सकता है, उस को उसी प्रकार के पाश में बांधा गया है। एक प्रकार से दुष्वप्न्य को ही पाश में बांधा गया है। मनुष्य जब दुष्वप्न्यादि शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेता है और नानाविध ऐश्वर्य प्राप्त कर लेता है, तब वह दिव्य-प्रकाश व दिव्य-आनन्द में विचरता है। यही भाव ६ वें सूक्त में प्रकट किया है। अब हम क्रमशः मन्त्रों द्वारा दुष्वप्न्य के बींधे जाने को दिखाते हैं।

तेनैनं विध्याम्यभूत्यैनं विध्यामि निर्भूत्यैनं विध्यामि पराभूत्यैनं विध्यामि ग्राह्यैनं विध्यामि तमसैनं विध्यामि ॥

(अ० १६।७।१)

अर्थात् उस से इसको बींधता हूँ। अभूति, निर्भूति, पराभूति, ग्राही तथा तमस से इसको बींधता हूँ।

इस मन्त्र में दुष्वप्न्य को अभूति आदि साधनों से बींधा गया है। अभूति आदि जहां एक तरफ दुष्वप्न्य को पैदा करने वाली हैं, वहां दूसरी तरफ ये दुष्वप्न्य का विनाश भी करने वाली हैं। जैसे एक मनुष्य ऐश्वर्याभाव में नाना भांति के दुष्वप्न्य लेता है। उस की यह इच्छा होती है कि, झूठ, सच, तथा छल, कपट आदि जैसे भी हो, ऐश्वर्य अवश्य मिल जाये। इस के लिये वह नाना भांति के षडयन्त्र रचता है। ऐसे मनुष्य में से दुष्वप्न्य को दूर करनें का तरीका यह है कि, वह मनुष्य

ऐश्वर्य-प्राप्त के लिये सब कुछ करते हुए भी अभूति में ही रहे। अर्थात् उसे ऐश्वर्य की प्राप्ति न हो ऐसा होने पर वह दुष्वप्न्य को व्यर्थ समझ कर उसे त्याग देगा और जहां निर्भूति से दुष्वप्न्य पैदा हो वहां निर्भूति को सामान्य बात बना दिया जाये अर्थात् यह तो चञ्चल माया है। यदि यह निकल गई तो कोई हानि नहीं जब इस प्रकार मानसिक वृत्ति बन जायेगी तो इससे निर्भूति का दुष्वप्न्य पैदा करने का प्रभाव जाता रहेगा। इसी प्रकार पराभूत के सम्बन्ध में समझना चाहिये।

जिस प्रकार इस मन्त्र में अभूति आदि दुष्वप्न्य को बींधने के साधन बताये गये हैं, उसी प्रकार "तेनैनं विध्यामि" इस वाक्य में 'तेन' पद किसी विशेष साधन का द्योतक नहीं है। परन्तु यह इस भाव का द्योतक है कि, अभूति आदि साधनों के अतिरिक्त जो दुष्वप्न्य जिस जिस से भी बिंध सकता हो, उस को उस उस से बींध देना चाहिये।

देवों की घोर व क्रूर आज्ञा—

द्वितीय मन्त्र में दुष्वप्न्य को दूर करने का एक और उपाय बताया गया है, जो कि, इस प्रकार है—

देवानामेनं घोरैः क्रूरैः प्रैषैरभिप्रेष्यामि।

(अ. १६।७।२)

अर्थात् इस स्वप्न को मैं देवों (इन्द्रियां, दिव्य भाव, देव पुरुष) की घोर तथा क्रूर आज्ञाओं से दूर भगाता हूँ।

दुष्वप्न्य को दूर करने का यह भी श्रेष्ठ उपाय है। परन्तु विचारणीय यह है कि, इस स्थल पर देवों द्वारा दुष्वप्न्य का दूर भगाने का विधान है, और अ. ६।४६।१ में स्वप्न को "देवानाममृतगर्भोऽसि" अर्थात् देवों का अमृत गर्भ बताया गया है। इस से यह पता चलता है कि, स्वप्न कभी भी विनष्ट होने वाला नहीं है। ऐसी अवस्था में इस उपयुक्त मन्त्र द्वारा दुष्वप्न्य का विनाश करने व दूर करने का जो आदेश है, उस का यही भाव प्रतीत होता है कि, मनुष्य दुष्वप्न्य का पूर्णतया समूलोच्छेद व बीजविनाश तो सम्भवतः न कर सके। परन्तु उसको प्रकट होने व प्रबल होने से अवश्य रोक सकता है। मनुष्य में स्वप्न अच्छे व बुरे रूप में अथवा बीजरूप में अवश्य विद्यमान रहता है। यह सम्भव है कि, प्रयत्न द्वारा उसे इतना क्षीणशक्ति कर दिया जाये कि, जीवन के सम्पूर्ण भाग में वह कभी दृष्टिगोचर ही न हो यदि हो भी तो बहुत कम। इसी अवस्था की प्राप्ति के लिये दुष्वप्न्य के विनाश का वर्णन किया गया है। दुष्वप्न्य विनाश का दूसरा भाव यह भी हो सकता है कि, बुरे स्वप्नों का स्थान अच्छे स्वप्न ले लें। इससे स्वप्न अमृत भी रहेगा और दुष्वप्न्य का विनाश भी हो जायेगा। यही भाव अ० १६।५७।२ में इस प्रकार से कहा गया है कि, "यो भद्रः स्वप्न स मम यः पापस्तद् द्विषते प्रहिण्मः" अर्थात् हे स्वप्न ! जो तेरा भद्र रूप है वह तो मेरा है और जो पापरूप है वह शत्रु का है। इस प्रकार स्वप्न एक रूप में अमृत भी है और दूसरे रूप में विनाश के योग्य भी है। इन्द्रियों द्वारा दुष्वप्न्य को घोर आज्ञा देने का भाव यह है कि, इन्द्रियों को अन्तर्मुख करके उनकी देवशक्ति को प्रबल बनाकर दुष्ट स्वप्न को आज्ञा दें कि,

अब तेरा यहां कोई स्थान नहीं अब तू यहां से निकल जा।

दूसरा देव का अर्थ है दिव्य भाव। मन में दिव्य व आसुरी दोनों प्रकार के भाव पैदा होते हैं। इन में परस्पर संघर्ष होता रहता है। अतः आसुरी भावों से उत्पन्न दुष्वप्न्यों को विनष्ट करने के लिये दिव्य भावों का प्राबल्य पैदा करना चाहिये इस प्रकार दिव्य भावों की प्रबलता से दुष्ट स्वप्न स्वयं दूर चले जायेंगे।

तीसरे देव सन्त महात्मा व दिव्य पुरुष हो सकते हैं। दुष्वप्न्यों को दूर करने के लिये जो भी कठोर तपस्या व नियत्रण वे करें, उन का पालन करना चाहिये। ये ही तपस्या तथा नियन्त्रणादि दुष्वप्न्यों को दूर होने के लिये उन की घोर आज्ञाएं हैं। इस प्रकार वेद-मन्त्र से हमें यह पता चला कि, देवों अर्थात इन्द्रियों, दिव्य भावों व देव पुरुषों की घोर व क्रूर आज्ञाओं से दुष्वप्न्यादि को दूर किया जा सकता है।

(३) वैश्वानर की दाढ़—

अगले मन्त्र में दुष्वप्न्य के विनाश का एक और उपाय बताया है।

वह इस प्रकार है—

'वैश्वानरस्यैनं दंष्ट्रयोरपि दधामि'। (अथर्व. १६।७।३)

अर्थात् मैं दुष्वप्नरूपी शत्रु को वैश्वानर की दाढ़ में धरता हूं।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि, वैश्वानर कौन है ? वेदों में वैश्वानर अग्नि को भी कहा गया है। किन्तु वह वैश्वानर अग्नि कोन सी है ? उसका स्वरूप क्या है ? इत्यादि बातों का स्पष्टीकरण इस वैश्वानर शब्द की व्युत्पत्ति के अन्दर ही निहित है। वैश्वानर शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है–"विश्वेभ्यो नरेभ्यो हितः" अर्थात् विश्व नरों के लिये हितकारी। इस से स्पष्ट है कि, वैश्वानर जो भी हो वह संपूर्ण मनुष्यों के लिये मंगलकारक होना चाहिये। दुष्व-प्न्यों को दूर करने का यह वैश्वानर सर्वोत्तम उपाय है। मनुष्य अपने अन्दर वैश्वानर अग्नि को धारण करें और उसके आधार पर कोई वैश्वानर यज्ञ रचे तो ये दुष्वप्न सर्वथा विनष्ट हो जायेंगे। क्योंकि दुष्वप्नों की उत्पत्ति, अभूति, निर्भूति, पराभूति आदि से ही होती है। और यह अभूति आदि अवस्थायें मनुष्य के संकुचित मन को सूचित करती हैं।

मनुष्य की सीमा जब बहुत परिमित होती है, उसका मान-सिक क्षेत्र जब अपने व अपने सम्बन्धियों तक ही सीमित होता है, तभी अभूति निर्भूति आदि मनुष्य पर अत्यधिक प्रभाव डालती हैं। परन्तु जब मनुष्य इस संकुचित सीमा को छोड़ कर वैश्वानर-रूपी विशाल व विस्तृत सीमा को अङ्गीकार करता है, तब स्वप्न स्वयं ही विलीन हो जाते हैं। वैश्वानर अग्निवाले मनुष्य पर अभूति व निर्भूति आदि क्या असर दिखायेंगी ? वह तो स्वयं ऐश्वर्य को लुटाता है, उस वैश्वानर यज्ञ में सर्वस्व होम देता है। संपूर्ण ऐश्वर्य ही क्या अपने तक को उसमें ही भस्म कर देता है। अतः उसकी पराभूति भी क्या ? उसका अपना कोई नहीं, वह तो "अहम्" से "वयम्" की अवस्था में जा पहुंचता है। अतः "अहम्"

की अवस्था में पैदा होने वाले ये दुष्वप्न "वयम" की अवस्था आने पर स्वयं विलीन हो जाते हैं। वेद इस मन्त्र के द्वारा दुष्वप्न को दूर करने का यही उपाय बताता है कि. दुष्वप्न को वैश्वानर की दाढ में धर दो।

इसी वैश्वानर भावना के सम्बन्ध में अगले मन्त्र में कहा है कि—

"एवानेवाव सा गरत्।" (अथर्व. १६।७।४)

अर्थात् वह वैश्वानर की दाढ़ उस दुष्वप्न-रूपी शत्रु को इस प्रकार से या उस प्रकार से निगल जाये।

इस मन्त्र से क्या भाव टपकता है? यह समझाने से पूर्व एक शंका पैदा होती है, जोकि इस प्रकार है कि—

जितने भी आर्ष ग्रन्थ हैं, सभी एक स्वर से वेदों को परमात्मा का ज्ञान मानते हैं। और यह भी स्वीकार करते हैं कि वेद सर्व-सत्य-विद्याओं का भण्डार है। इस दृष्टि से यदि हम सोचें तो क्या मन में ये भाव नहीं पैदा होते हैं कि चारों वेदों के थोड़े से मन्त्रों में कोई मन्त्र क्या, कोई शब्द भी व्यर्थ न होना चाहिये। किन्तु यह मन्त्र स्थूल दृष्टि से देखने में व्यर्थ मालूम पड़ता है। इस कथन का क्या आवश्यकता थी कि, वैश्वानर की दाढ़ दुष्वप्न्य को इस तरह से या उस तरह से निगल जाये। अतः इस मन्त्र की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है। परन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचारें तो इस में एक बड़े गंभीर व गूढ़ रहस्य का पता चलता है। और वह यह है कि, वैश्वानर अग्नि कई तरह की होती है,

किसी में वैश्वानर अग्नि इस रूप में प्रकट होती है कि वह यह समझता है कि, विश्व नरों का हित गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली के उद्धार में है। किसी को अछूतोद्धार के रूप में और किसी को गो-जाति के उद्धार में विश्व नरों का हित दिखाई देता है। इसी आधार पर वे अपने अपने वैश्वानर यज्ञ को रचते हैं।

अब इन वैश्वानर अग्नि धारण करने वालों तथा उनके अनुयायिओं में प्रायः एक न्यूनता देखी जाती है, और वह यह कि वे अपने वैश्वानर यज्ञ का ही विश्व नरों के हित में एक मात्र और अन्तिम साधन समझते हैं। एक की दृष्टि में दूसरा वैश्वानर यज्ञ गौण होता है। परन्तु इसके विपरीत वेद के इस मन्त्र द्वारा यह ध्वनि निकलती है कि, कोई भी वैश्वानर अग्नि गौण नहीं है। सब एक समान हैं और सब ही मनुष्यों का हित करने वाली हैं। और सब में यह शक्ति है कि, वे मनुष्य के दुष्वप्न को दूर कर सकती हैं। इस लिये मनुष्य को अपनी अपनी रुचि व स्वभाव के अनुसार दुष्वप्नों को दूर करने के लिये वैश्वानर अग्नि प्रज्वलित करना चाहिये। और तदनुसार ही वैश्वानर यज्ञ में अपने का होम देना चाहिये।

दुष्वप्न्य के प्रति द्वेष बुद्धि—

अगले ५ वें मन्त्र में दुष्ट स्वप्न को दूर करने का एक और उपाय बताया गया है। वह इस प्रकार है—

योऽस्मान् द्वेष्टि तमात्मा द्वेष्टु यं वयं द्विष्मः स आत्मानं द्वेष्टु।

(अ. १६।७।५)

अर्थात् जो हम से द्वेष करता है, उस को हमारा आत्मा द्वेष करे

और जिससे हम द्वेष करते हैं, वह स्वयं अपने से द्वेष करने लगे।

इस उपर्युक्त मन्त्र के भाव को ठीक ठीक समझने के लिये हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि मन्त्र में एक 'अस्मान्' शब्द है। जो कि बहुवचन में होने के कारण समाज का निदर्शक है, और फिर प्रथम मन्त्र के आधार पर समाज भी 'अनागसः' निष्पापियों की समाज है। इन निष्पापियों की समाज से द्वेष करने वाला पाप व पापी व्यक्ति ही हो सकता है। इस लिये व्यक्ति का निदर्शक मन्त्र में 'यः' शब्द है। अर्थात् पापी व्यक्ति और निष्पापी समाज का झगड़ा है। इन दोनों के द्वेष में मन्त्र कहता है कि जो हम से द्वेष करता है उस से हमारा आत्मा द्वेष करे। दुष्वप्न्य के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि दुष्वप्न्य हम से द्वेष करते हैं, ये हमें हानि पहुँचाते हैं, अतः ये हमारे शत्रु हैं। हमारी आत्मा को चाहिये कि वह उन से द्वेष करे, कभी भी उन्हें अपने अन्दर स्थान न दे।

मन्त्र में जो यह कहा है कि--

'यं वयं द्विष्मः स आत्मानं द्वेष्टु'

अर्थात् जिस से हम द्वेष करें, वह अपने आप से द्वेष करने लगे।

मानवीय क्षेत्र में तो यह ठीक है कि, मनुष्य अन्य मनुष्यों की दृष्टि में पतित हो जाने पर अपने से घृणा करने लगता है। परन्तु स्वप्न के क्षेत्र में यह एक आलंकारिक वर्णन है।

दुष्ट स्वप्न को त्रिलोकी से बाहिर निकाल देना--

निर्द्विषन्त दिवो निः पृथिव्या निरन्तरिक्षाद् भजाम। (अ. १६।७।६)

अर्थात् हम से द्वेष करने वाले दुष्ट स्वप्न को द्युलोक, पृथिवी-लोक तथा अन्तरिक्षलोक से निकाल बाहिर करते हैं।

इस ब्रह्माण्ड में विद्यमान द्युलोक आदि से तो दुष्वप्न्य का कोई सम्बन्ध ही नहीं। हां पिण्ड में विद्यमान द्युलोक आदि से दुष्वप्न्य को दूर करने का वर्णन बहुत युक्ति सङ्गत है। स्वप्न की दृष्टि से पिण्ड में शरीर मन व मस्तिष्क अथवा उदर हृदय और मस्तिष्क ये तीन लोक हो सकते हैं। इन तीनों में से दुष्वप्न्य को बाहिर निकालने का उपाय यह है कि, मस्तिष्क-शक्ति, मानसिक शक्ति व शारीरिक शक्ति इन तीनों को उत्तम तथा प्रबल बनाया जाये। इन तीनों में यदि कोई भी शक्ति क्षीण होगी, तो दुष्वप्न्य अपना प्रभाव जमा लेंगे। अतः दुष्वप्न्य को दूर करने के लिये तीनों का श्रेष्ठ व शक्तिशाली होना आवश्यक है।

दुष्वप्न्य-शोधन का मानसिक-चिकित्सालय --

अगले दो मन्त्रों में दुष्वप्न्य-शोधन के लिये मानसिक चिकित्सालय का वर्णन प्रतीत होता है। वह इस प्रकार है--

सुयामंश्चाक्षुष। (अ. १६।७।७)
इदमहममुष्यायणेऽमुष्याः पुत्रे दुष्वप्न्यं मृजे।
(अ. १६।७।८)

अर्थात् उत्तम नियन्त्रण करने वाले अथवा उत्तम मार्ग का

अवलम्बन करने वाले और उत्तम विवेक आदि दृष्टि वाले अध्यक्ष ! मैं अमुक मां बाप के पुत्र में से दुष्वप्न्य को शोधता हूँ ।

उपर्युक्त मन्त्रों से कई बातों का स्पष्टीकरण होता है। एक तो दुष्वप्न्य का शोधन करने वाला है, जो कि सुयामन्, और चाक्षुष' नाम से किसी को सम्बोधन करके शोधन के लिये आज्ञा प्राप्त कर रहा है। इस आज्ञा देने वाले में 'सुयामन्' उत्तम नियन्त्रण और 'चाक्षुष' सब को देखते रहना कि सब काम ठीक हो रहा है कि नहीं-आदि गुण इस बात को सिद्ध करते हैं कि यह कोई मानसिक चिकित्सालय और परीक्षणशाला (Mental Hospital & Laboratary) है, जिस का 'सुयामन् और चाक्षुष' गुणों-वाला व्यक्ति अध्यक्ष है। इस अध्यक्ष की आज्ञा से चिकित्सक दुष्वप्न्य को शोधता है । और वह चिकित्सक कहता यह है कि अमुक मां बाप के पुत्र में से मैं दुष्वप्न्य को शोधता हूँ । इस से पता यह चलता है कि वेद बीमार का पूरा पता रजिस्टर पर लिखने का आदेश देता है। परन्तु प्रश्न होता है कि, मां बाप का ही पता क्यों लिखने का आदेश दिया है, स्थान आदि का क्यों नहीं ? और फिर मां बाप दोनों का क्यों लिखना ? क्या पिता का नाम लिखना ही पर्याप्त नहीं ? इस पर हमारा निवेदन यह है कि, मां बाप दोनों का परिगणन किसी गम्भीर भाव का द्योतक है। और वह यह प्रतीत होता है कि, रोगी में किन गुण–अवगुणों के कारण यह दुष्वप्न्यरूपी रोग पैदा हुवा है, इसका निर्णय मां बाप को

देख कर आसानी से किया जा सकता है। वंशक्रमानुगत कोई दोष तो नहीं—इत्यादि बातें माता पिता का ज्ञान प्राप्त करके निर्णीत हो सकती हैं। क्योंकि माता पिता से शारीरिक बिमारियां ही नहीं आती, मानसिक बिमारियां भी आती हैं।

चिकित्सक द्वारा दुष्वप्न्य का विनाश—

अगले कुछ मन्त्रों में चिकित्सक द्वारा दुष्वप्न्य-विनाश का काल बताया गया है मन्त्र इस प्रकार है—

यद्दोअदो अभ्यगच्छन् यद् दोषा यत्पूर्वां रात्रिम्।
(अ. १६।७।६)

यज्जाग्रत् यत्सुप्तो यद् दिवा यन्नक्तम्। (अ. १६।७।१०)

यदहरहरभिगच्छामि तस्मादेनमव दये। (अ. १६।७।११)

अर्थात् जो अमुक अमुक समयों में आते हों, सायंकाल, पूर्व रात्रि, जागते हुए, सोते हुए, दिन में रात्रि में अर्थात् जिस घड़ी स्वप्न आते हों, उससे मैं इस व्यक्ति को हटाता हूँ।

इन उपर्युक्त मन्त्रों से यह भाव टपकता है कि, चिकित्सक रोगी पर रातदिन निगरानी रखकर यह देखता है कि, इसको दुष्ट स्वप्न का आक्रमण किस समय होता है। यह अच्छी तरह से देख भाल कर उस उस काल के अनुसार उपाय कर के वह दुष्वप्न्य का विनाश करता है।

चिकित्सक द्वारा दुष्वप्न्य—विनाश के लिये रोगी को प्रेरणा--

आगे मन्त्रों में चिकित्सक रोगी को दुष्वप्न्य-विनाश के लिये

प्रेरणा करता है। मन्त्र इस प्रकार है—

ते जहि तेन मन्दस्व तस्य पृष्टीरपि शृणीहि।
(अ० १६।७।१२)

स मा जीवीत् तं प्राणों जहातु।
(अ० १६।७।१३)

अर्थात हे मनुष्य! तू इस दुष्ट स्वप्न को मार, और इस के मरने से प्रसन्न हो, उसकी पसली तक तोड़ डाल। वह जीता न रहे, प्राण उसे छोड़ जायें।

इन मन्त्रों से स्वप्न लेने वाले की मानसिक अवस्था का भी दिग्दर्शन होता है। स्वप्न लेने में मनुष्य को बड़ा आनन्द आता है। वह स्वप्न को छोड़ना नहीं चाहता, चाहे वह दुष्ट स्वप्न ही क्यों न हो! चिकित्सक रोगी को कहता है कि, तू स्वप्न को मार और मारने में प्रसन्न हो, उस पर से मोह छोड़। चिकित्सक की प्रेरणा से भी यदि रोगी दुष्वप्न्य पर प्रहार भी करेगा, तो बहुत ही हलका करेगा। इसलिये वेद ने कहा है कि, दुष्वप्न्य पर हलका प्रहार न हो, प्रहार ऐसा हो कि, उस की पसली तक टूट जाये। और फिर पसली टूटना ही पर्याप्त नहीं, अपितु वह जीता न रहे, मर जाये।

इस प्रकार दुष्वप्न्य के पूर्ण विनाश के लिये चिकित्सक रोगी को प्रेरणा देता है और दुष्वप्न्य का विनाश करके ही छोड़ता है।

दुष्वप्न्य लेने वालों को भिन्न भिन्न सुधारकों के पाशों में बांधना।

(अथर्व० १६ कां० ८ सू०)

विगत ७ वें सूक्त में हम यह देख चुके हैं कि, दुष्वप्न्य लेने वाले को अभूति आदि साधनों द्वारा वेध कर सुधार के लिये चिकित्सक के पास छोड़ दिया गया है। अब इस ८ वें सूक्त में यह बताया गया है कि, दुष्वप्न्य से मुक्त होकर हम विजयी हो गये हैं। और हमें वे सब ऐश्वर्य प्राप्त हो गये हैं, जिन के होने से दुष्वप्न्य हमें अब अभिभूत नहीं कर सकता। इसी उपर्युक्त भाव को दूसरे रूप में ह इस प्रकार भी कह सकते हैं, कि दुष्वप्न्य तो एक मानसिक रोग है, इस को दूर करने के लिये दुष्वप्न्य लेने वाले को पाश में बांधा गया है। और चिकित्सक यह कहता है कि, जब तक दुष्वप्न्य दूर न हो तब तक यह छूटने न पावे। इसलिये भिन्नभिन्न प्रकार के दुष्वप्न्यों को सुधारने वाले भिन्न भिन्न प्रकार के सुधारकों के पाशों का इस सूक्त में वर्णन किया गया है। अब हम इस सूक्त की व्याख्या करते हैं।

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽ-
स्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरस्माकं यज्ञोऽस्माकं
पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।

(अ० १६।८।१)

अर्थात् विजय, विकास, ऋत अर्थात् सत्य नियमों का पालन, तेज, ब्रह्म, स्वर, (दिव्य प्रकाश व दिव्य आनन्द), यज्ञ, पशु, प्रजा तथा वीर पुरुष हमने प्राप्त किये हैं।

उपर्युक्त मन्त्र का भाव यह है कि, स्वप्नादि दोषों पर मनुष्य ने विजय प्राप्त कर ली है। और दुष्वप्न्यों को जिन जिन सुधारकों के पाशों में बांधा गया है, वहां से छूटने न देने के लिये दृढ़ संकल्प करता है। और दुष्वप्न्य को दर रखने वाली उपर्युक्त सब बातों का सदा ध्यान रखता है। वह मनुष्य इस भाषा में बोलता है कि, हमारी विजय हो गई है। हमारा नव विकास हुवा है। ऋत अर्थात सत्य नियमों का पालन करना हमारा कर्तव्य हो गया है। इनके पालन करने से हमारे अन्दर तेज का प्रादुर्भाव हुआ है। और हम ब्रह्म में सदा विचरते हैं। अतः ब्रह्म का जो स्वरूप अर्थात दिव्य प्रकाश व दिव्य आनन्द रूप है, उस में हम सदा निमग्न रहते हैं। और सब प्रकार के यज्ञ हम करते हैं, अतः हमें पशु, प्रजा तथा वीर पुरुषों की प्राप्ति हो गई है। इन सब उपर्युक्त, पदार्थों के आश्रयस्थान होने से अब हमें दुष्वप्न्यादि दोष पराभूत नहीं कर सकते। हमने उन को निकाल बाहिर फेंका है, या पाशों में जकड़ दिया है।

अतः अगले मन्त्र में कहा है कि–

तस्माद मु निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः।

(अ० १६।८।२)

अर्थात् उपर्युक्त पदार्थों की प्राप्ति के अनन्तर हमारे अन्दर वह शक्ति आ गई है कि, अमुक मां बाप के पुत्र अमुक प्रकार के स्वप्न को हम बाहिर निकाल फेंकते हैं।

इस उपर्युक्त मन्त्र में "तस्मात्" इस बात की ओर निर्देश

कर रहा है कि, प्रथम मन्त्र में वर्णित शक्तियों की प्राप्ति के अनन्तर हमारे में वह सामर्थ्य पैदा हो जाती है कि, जिस से हम आसानी से दुष्वप्न्यों को बाहिर निकाल फेंकते हैं। और दुष्वप्न्य को 'अमुष्यायणम्' अमुक पिता का पुत्र तथा "अमुष्याः पुत्रम्" अमुक माता का पुत्र कहने का भाव यह है कि, भिन्न भिन्न प्रकार के दुष्वप्न्यों को भिन्न भिन्न प्रकार के साधनों से दूर किया जाना चाहिये।

आगे कुछ मंत्रों में दुष्वप्न्य को ग्राही, अभूति, निर्भूति आदि के पाशों में बांधने का निर्देश मिलता है। परन्तु विचारणीय यह है कि ग्राही आदि दुष्वप्न्य की माताएं हैं, ये दुष्वप्न्य को किस प्रकार अपने पाशों में बांध सकती हैं? इसका उत्तर एक तो यह हो सकता है कि, जिस समय हम शक्तिहीन थे और अभूति आदि से आक्रान्त थे, उस समय दुष्वप्न्य शक्तिशाली था। और उस के हम शिकार हुए २ थे। परन्तु इस ८ वें सूक्त में मनुष्य की उन्नत अवस्था का दिग्दर्शन कराया हुआ है। वह अब शक्तिशाली है और दुष्वप्न्य शक्तिहीन है। इसलिये अभूति आदि का शिकार अब दुष्वप्न्य बना हुआ है। दुष्वप्न्य में शक्ति न होना व उस का शक्तिक्षीण होना ही अभूति आदि का शिकार होना है। इसी दृष्टिसे दुष्वप्न्य को ग्राही अभूति आदि के पाश में बांधा गया है। दूसरा भाव यह है कि, जहां अभूति आदि दुष्वप्न्य को पैदा करती हैं, वहां भद्र स्वप्न को भी पैदा करनेवाली होती हैं। इसलिये भद्र स्वप्न को पैदा करके दुष्वप्न्य को अभूति आदि के

पाश में बांधा जा सकता है। अब हम मन्त्रार्थ दिखाते हैं:

'स ग्राह्याः पाशान्मा मोचि'।

अर्थात् वह दुष्वप्न्य ग्राही के पाश से न छूटे।

ग्राही के पाश में दुष्वप्न्य को बांधने का भाव यह है कि, जिस अवस्था में हमें ग्राही आदिने जकड़ा हुआ था, वही अवस्था दुष्वप्न्य की हो जाये। उस को भी ग्राही जकड़ ले, और वह उस के पाश से छूटने न पावे। परन्तु प्रश्न हो सकता है कि, दुष्वप्न्य के लिये ग्राही कौन है ? इस का उत्तर इस प्रकार हो सकता है कि, जैसे चिन्ता, शोक, आदि मनुष्य के लिये ग्राही हैं, वैसे ही प्रसन्नता, उल्लास आदि स्वप्न के लिये ग्राही हो सकते हैं। अर्थात् मनुष्य की वह अवस्था जो कि, चिंता शोक आदि को पैदा करती है, उस के विपरीत अवस्था को पैदा करके दिव्य भावों को पैदा करना दुष्वप्न्य के लिये ग्राही को पैदा करना है। अतः मन्त्र में प्रार्थना की गई है कि, प्रसन्नता तथा दिव्य भाव आदि ग्राही के पाश से दुष्वप्न्य छूटने न पावे।

आगे कहा है कि—

स निर्ऋत्याः पाशान्मा मोचि ॥ ५ ॥

अर्थात् वह दुष्वप्न्य निर्ऋति के पाश से न छूटे। निर्ऋति के पाश से न छूटने का भाव यह है कि, वह, स्वप्न कष्ट आपत्ति

आदि से सदा घिरा रहे। अर्थात हमारा यह प्रयत्न होना चाहिये कि, दुष्वप्न्य की सत्ता व वृद्धि के विनाश के लिये हम सदा उस के ऊपर प्रहार करते रहें, जिस से उस की सत्ता तक खतरे में पड़ जाये। दूसरा निर्ऋति का अर्थ पाप करने पर निर्ऋति के पाश में बांधने का भाव यह है कि, हम दुष्वप्न्य को पाप समझें। और उस के निवारण के लिये सदा प्रयत्नशील रहें।

आगे कहा है कि—

सोऽभूत्याः पाशान्मा मोचि ॥ ६ ॥

अर्थात् वह दुष्वप्न्य अभूति के पाश से न छूटे।

इस का भाव यह है कि, वह दुष्वप्न्य जो कि अभूति की अवस्था में विद्यमान है, अर्थात् जिस स्वप्न का हमारे अन्दर अभाव है, वह सदा हम से दूर रहे, ऐसा प्रयत्न हमें करते रहना चाहिये। मनुष्य का इतना ही कर्तव्य नहीं कि, जो दुष्वप्न्य उस के अन्दर विद्यमान है, उस को ही विनष्ट करने का वह प्रयत्न करे। अपितु अब तक के जीवन में जिन दुष्वप्न्यों का वह शिकार न बना हो, किसी भी अवस्था में वे आक्रान्त न कर सकें। ऐसा उसे हमेशा प्रयत्न करते रहना चाहिये। दुष्वप्न्य को अभूति के पाश में बांधने का यही तात्पर्य है।

आगे कहा है कि—

स निर्भूत्याः पाशान्मा मोचि ॥ ७ ॥

अर्थात वह दुष्वप्न्य निर्भूति के पाश से न छूटे।

अब विचारणीय यह है कि, दुष्वप्न्य का निर्भूति के पाश से न छूटने का क्या भाव है? पूर्व मन्त्र में हम यह देख चुके हैं कि, दुष्वप्न्य को अभूति अर्थात् अभाव के पाश में बांधा गया है। अर्थात् प्रत्येक मनुष्य को यह प्रयत्न करना चाहिये कि, जिन दुष्वप्न्यों ने अभी तक उस पर आक्रमण नहीं किया है, वे कभी भी उस पर आक्रमण न कर सकें। वे सदा अभावात्मक ही रहें। परन्तु यह सब प्रयत्न करते हुए भी मानवीय न्यूनताओं के कारण यह सम्भव है कि नये दुष्वप्न्य भी शक्तिशाली होकर उस पर आक्रमण कर देवें। अतः इस सम्भावना को दृष्टि में रखते हुए मन्त्र में यह निर्देश मिलता है कि जो दुष्वप्न्य मनुष्य पर आक्रमण कर चुके हैं, उन के ऐश्वर्य को सदा बाहिर निकालते रहना चाहिये।

आगे कहा कि--

स पराभूत्याः पाशान्मा मोचि ॥ ८ ॥

अर्थात वह दुष्वप्न्य पराभूति के पास से न छूटे।

दुष्वप्न्य को पराभूति के पाश में बांधने का भाव यह है, कि हमें अपने अन्दर इतनी सामर्थ्य पैदा कर लेनी चाहिये कि,

जब जब दुष्वप्न्य हम पर आक्रमण करे, सदा पराभूत होकर लौट जाये। यह मन्त्र यह बताता है कि दुष्वप्न्यरूपी शत्रु को पराभूत करने के लिये हमें अपने अन्दर सदा शक्ति-सञ्चय करते रहना चाहिये।

आगे कहा है कि—

स देवजामीनां पाशान्मा मोचि ॥ ६ ॥

अर्थात वह स्वप्न देवजामियों के पाश से न छूटे।

देवजामी शब्द के अर्थ हम पहले देख चुके हैं। जो बुरे स्वप्नों को पैदा करने वाले हैं, वे देवजामी बुरे हैं और जो अच्छे स्वप्नों को पैदा करने वाले हैं, वे अच्छे हैं। अच्छे स्वप्नों को पैदा करने वाले देवजामियों द्वारा दुष्वप्न्यों का पाश में बांधा जा सकता है।

आगे कहा है कि—

स बृहस्पतेः पाशान्मा मोचि ॥ १० ॥

अर्थात् वह दुष्वप्न्य बृहस्पति के पाश से न छूटे।

बृहस्पति के पाश में दुष्वप्न्यों को बांधने का क्या अभिप्राय है? यह उस के स्वरूप व कार्य के निर्णय से स्पष्ट हो जायगा। बृहस्पति का विवेचन करना तो यहां अप्रासंगिक सी बात होगी। 'ऋभुदेवता' नामक पुस्तक में हमने बृहस्पति के सम्बन्ध में कुछ

संक्षिप्त विवेचन किया है. उस के आधार पर एक शब्द में यह कहा जा सकता है कि बृहस्पति वेदवाणी का स्वामी है। राष्ट्र में वह शिक्षा-विभाग का अधिकारी है। प्रजाओं में ज्ञान का प्रकाश करना उस का कार्य है। राष्ट्र का प्रत्येक बच्चा नव विकास तथा नया जन्म पाने के लिये इस के पास पहुँचता है। बच्चे की शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक उन्नति करना इस का कार्य है। अतः अज्ञान तथा अविकास आदि के आधार पर जो दुष्ष्वप्न्य मनुष्य को आ घेरते हैं, उन को मन्त्र में बृहस्पति के पाश में बांधने की प्रार्थना की गई है।

दूसरे यह मंत्र मनुष्य की चार अवस्थाओं में ब्रह्मचर्य अवस्था के समय होने वाले दुष्वप्न्यों को बृहस्पति द्वारा पाश में बांधने का निदर्शक है।

आगे मंत्र में कहा कि—

स प्रजापतेः पाशान्मा मोचि ॥११॥

अर्थात् वह दुष्वप्न्य प्रजापति के पाश से न छूटे।

प्रजा सन्तति आदि के अभाव से मनुष्य में जो दुष्वप्न्य आदि दुर्विचार उठते हैं, वे प्रजापति परमात्मा के सब प्रकार की प्रजा के प्रदान करने से दूर हों। यह दुष्वप्न्य को प्रजापति के पाश में बांधने का तात्पर्य है। दूसरा राष्ट्र के

क्षेत्र में इस का भाव यह है कि, राष्ट्र का प्रजापति अधिकारी राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति के प्रजा, पशु, सन्तति आदि के अभाव को दूर करे। और सन्तति तथा पशु आदि के होने में सहायक होकर इन के अभाव से होने वाले दुष्ट स्वप्नों को दूर करे। यह मन्त्र मनुष्य के गृहस्थाश्रम में सन्तति आदि के अभाव से होने वाले दुष्वप्न्यों को प्रजापति के द्वारा पाश में बांधने का आदेश देता है।

आगे कहा है कि—

स ऋषीणां पाशान्मा मोचि ॥१२॥

अर्थात् वह दुष्वप्न्य ऋषियों के पाश से न छूटे।

ऋषि सूक्ष्म तत्त्वों तथा गूढ़ रहस्यों के साक्षात्कर्ता हैं। वे सत्यासत्य का निर्णय अपनी दिव्य दृष्टि से कर सकते हैं। हमारे शरीर में भी पदार्थों के सत्य रूप का दर्शन करने वाली ज्ञानेन्द्रियां भी ऋषि कहलाती हैं। ये भी सत्यासत्य दर्शन के द्वारा निर्णय करने वाली हैं। अतएव मनुष्य को यह चाहिये कि ऋषियों का सत्संग करके वास्तविकता का पता चलावे और अज्ञान तथा असत्यादि से होने वाले दुष्वप्न्यों का निवारण करे।

आगे कहा कि—

स आर्षेयाणां पाशान्मा मोचि ॥१३॥

अर्थात् वह दुष्वप्न्य आर्षेयों के पाश से न छूटे।

आर्षेय शब्द ऋषि-संतान के लिये आता है। आर्षेय के सम्बन्ध में शत० ४।३।४।१९ में कहा गया है कि, "यो वै ज्ञातो (ज्ञातकुलीनः) ऽनूचानः स ऋषिरार्षेयः" अर्थात् जिस का कुल ज्ञात है, ऐसा वेद-प्रवक्ता ऋषि आर्षेय कहलाता है। इसलिये इसको हम खानदानी ऋषि कह सकते हैं। भारतवर्ष में जो जमदग्नि, भरद्वाज, वसिष्ठ आदि ऋषिवंश प्रचलित हैं, उन्हीं में यह आर्षेय शब्द प्रयुक्त हो सकता है। और ऋषि शब्द सामान्य है। यह ऋषि पदवी को प्राप्त ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि सभी के लिये प्रयुक्त हो सकता है। तां० ब्रा० में एक स्थल पर यह कहा भी है कि, "योऽनार्षेयो विद्वान्" (तां० २०।१५।१०) अर्थात् आर्ष कुल में न होकर भी विद्वान् हो सकता है।

प्रसंगवश हमें यहां पर इस बात का भी ख्याल रखना चाहिये कि, ये जमदग्नि, भरद्वाज, वसिष्ठ आदि ऋषि-वंश प्रवाह-रूप से नित्य हैं और मानव-समाज का ही इन वंशों पर एकाधिपत्य नहीं है। अन्य क्षेत्रों में भी ये वंश चलते हैं, उदाहरणार्थ शरीर के क्षेत्र में देखा जा सकता है। शत० ३।६। १।१ में यज्ञरूपी नाटक द्वारा उदर की व्याख्या की गई है। वहां आता है—

"उदरमेवास्य सदः। तस्मात्सदसि भक्षयन्ति यद्धीदं किं चाश-

न्त्युदर एवेदं सर्वं प्रतितिष्ठत्यथ यदस्मिन्विश्वे देवा असीदंस्तस्मात् सदो नाम त उ एवास्मिन्नेते ब्राह्मणविश्वगोत्राः सीदन्त्यैन्द्र्‍ं देवतया।"

अर्थात् उदर सद है, क्योंकि उस में भक्षण करते हैं, जो कुछ खाया जाता है, वह सब उदर में ही जाकर स्थित होता है, इसलिये सद नाम रक्खा गया है। इस सद में इंद्र देवता को प्रमुख मानकर सब गोत्रों के ब्राह्मण विराजमान होते हैं।

यहां यह बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिये कि, जो सृष्टि में हो रहा है, उसी के आधार पर यज्ञरूपी नाटक में दिखाया जाता है। उदर में सब गोत्रों के ब्राह्मण विराजमान हैं। इसलिये बाह्य यज्ञ में भी सब गोत्रों के ब्राह्मण सद में बैठाये जाते हैं। कहने का भाव यह है कि, वंश व गोत्र आदि प्रवाह-रूप से नित्य हैं और मानवसमाज का ही इन पर एकाधिपत्य नहीं है। यदि शरीर में विद्यमान आर्षेय स्वस्थ हों और अपना कार्य ठीक ठीक कर रहे हों, तो शरीर की अव्यवस्था से होने वाले दुष्वप्न्य न होंगे। परन्तु बाह्य मानवसमाज के अंदर विद्यमान आर्षेयों के पाश में दुष्वप्न्य को बांधने का भाव यह है कि, आर्षेय खानदानी ऋषि होता है। उस के वंश में दोषों को दूर करने के लिये आदि सृष्टि से क्या क्या नियमोपनियम चले आ रहे हैं? इत्यादि बातों को जानकर और उन के बताये मार्ग पर चल

कर मनुष्य आसानी से दुष्वप्न्यादि दोषों को दूर कर सकता है।

आगे आता है कि—

सोऽङ्गिरसां पाशान्मा मोचि ॥१४॥

अर्थात् वह दुष्ट स्वप्न अंगिराओं के पाश से न छूटे।

अब विचारणीय यह है कि, ये अंगिरस कौन हैं? वेदों में अंगिरस अग्नि को कहा है। ऋ० १।३१।१ में आता है कि, "त्वमग्ने प्रथमोऽङ्गिरा" हे अग्नि! तू प्रथम अर्थात् मुख्य अंगिरा है। अंगिरा शब्द का रहस्य ब्राह्मण ग्रंथ ने इस प्रकार स्पष्ट किया है कि, "तं वा एतमङ्गरसं संतमङ्गिरा इत्याचक्षते" अर्थात् अंगों के रस को अंगिरा कहते हैं। इस अंगरस के सम्बन्ध में शत० १४।४।१।२१ में आता है कि—

सोऽयास्य आङ्गिरसः । अङ्गानां हि रसः
प्राणो वा अंगानां रसः प्राणो हि वा अंगानां
रसस्तस्माद्यस्मात्कस्माच्चाङ्गात्प्राण उत्क्रा-
मति तदेव तच्छुष्यत्येष हि वा अंगानां रसः ॥

अर्थात् अंगों का रस प्राण ❀ है, वास्तव में प्राण ही

❀ प्राणियों के शरीर में जो निर्माण व विनाश-प्रक्रिया चल रही है, उसे वैदिक भाषा में प्राण और अपान कहते हैं।

प्राण—निर्माण (Anabolism) } इस सम्बन्ध में विस्तार से फिर
अपान—विनाश (Catabolism) } कभी आपके सामने रखेंगे।

अङ्गों का रस है। क्योंकि यदि किसी अंग से प्राण निकल जाये, तो वह अङ्ग सूख जाता है। अतः प्राणों को अंगिरस कहते हैं। इस का भाव यह हुआ है कि, मनुष्य को अङ्गों के रस अर्थात् अपनी प्राणशक्ति को खूब बढ़ाना चाहिये, जिससे कि मन व शरीर स्वस्थ रहें और दुष्वप्न्य मनुष्य को आक्रांत न कर सकें। प्राणशक्ति अग्नि में सब अंगों के रस हैं। उपर्युक्त मंत्र में अग्नि को जो अंगिरा कहा गया है, उसका भाव यह है कि, शरीर के अवयवों में जो अग्नियां कार्य कर रही हैं, वे ठीक ठीक कार्य करती हों, तो शरीर व मन स्वस्थ रहें और दुष्वप्न्यादि दोष मनुष्य में न पैदा हों।

अंगिरा अपर रात्रि के सूर्य को भी कहते हैं। अपर रात्रि में ही मनुष्य को अधिक स्वप्न आया करते हैं। अतः अंगिरा सूर्य से यह प्रार्थना हो सकती है कि, वह हमारे दुष्वप्न्यों को पाश में बांध ले। अर्थात् अपर रात्रि में ही ब्रह्मवेला आती है। इस समय का वायु-मंडल मनुष्यों के अङ्गों में प्राणों का संचार करने वाला होता है। अतः दुष्वप्न्यों को दूर करने के लिये मनुष्यों को ब्रह्मवेला में उठ जाना चाहिये और भ्रमण आदि द्वारा अंगों में प्राणों का संचार करना चाहिये।

आगे आता है कि—

स आंगिरसानां पाशान्मा मोचि ॥१५॥

अर्थात वह दुष्वप्न्य आंगिरसों के पाश से न छूटे।

ऊपर हम देख चुके हैं कि अंगिरा अग्नि और प्राण-शक्ति को कहते हैं। अतः अग्नि से उत्पन्न पदार्थों, आग्नेय पदार्थों व प्राणशक्तिसंपन्न पदार्थों को आंगिरस कहा जा सकता है। शारीरिक अङ्गों में प्राण व अग्नि को स्थिर रखने के लिये आवश्यक यह है कि, अग्नि से पकाये गये पदार्थों व आग्नेय पदार्थों का सेवन करे।

अन्नादि पदार्थ अग्नि से परिपक्क किये जाने पर ही अंगों का रस बन सकते हैं। कच्चे पदार्थ शरीर के लिए हानिकर हैं। यदि हम कच्चे पदार्थ ही सेवन करने प्रारम्भ करें तो हमारे में कई रोग उत्पन्न हो जायेंगे और उदर विकृत हो जाने पर नाना भांति के दुष्वप्न्यों के हम शिकार बन जायेंगे।

दूसरे आंगिरस अग्नि से उत्पन्न व्यक्तियों को भी कहते हैं। ऋ० १०।६२।५ में आता है कि—

> विरूपास इदृषयस्त इद्गम्भीरवेपसः।
> ते अंगिरसः सूनवस्ते अग्नेः परिजज्ञिरे ॥

अर्थात् विविध रूपों वाले तथा गम्भीर कर्म वाले वे

अंगिरस ऋषि अंगिरा के पुत्र हैं और वे अग्नि से पैदा हुए हैं।

इन आंगिरस व्यक्तियों का सहवास करने से एक सामान्य मनुष्य में भी अग्नि प्रज्वलित हो जाती है, और वह दुष्वप्न्यादि दोषों को भस्मसात् कर देती है। इसलिये दुष्वप्न्यों को दूर रखने के लिए मनुष्य को आंगिरस व्यक्तियों का सदा सहवास करना चाहिये।

आगे कहा है कि—

सोऽथर्वणां पाशान्मा मोचि ॥१६॥

अर्थात् वह दुष्वप्न्य अथर्वाओं के पाश से न छूटे।

निरुक्त में अथर्वा की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है—

'अथर्वाणोऽथनवन्तः थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः' ॥

(नि० ११।१८)

अर्थात गत्यर्थक थर्व धातु से अचल, निश्चल अर्थ में अथर्वा शब्द निष्पन्न होता है। इस से यह स्पष्ट है कि,

जो चञ्चलप्रकृति नहीं है, स्थिर-प्रकृति हैं, उन्हें अथर्वा कहते हैं। दुष्वप्न्य चञ्चल-प्रकृति मनुष्यों को ही अधिक आते हैं। स्थिर-प्रकृति मनुष्यों को दुष्वप्न्य का न होना या कम होना बहुत सम्भव है। अथर्वा के सम्बन्ध में कहा है कि—

'मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्'

(अथर्व० १०।२।२६)

अर्थात् अथर्वा मूर्धा और हृदय को एक में सीने वाला है। इस प्रकार अथर्वा मनुष्य वह है जो कि, मस्तिष्क व हृदय दोनों को सतुलित रखता है, इनका परस्पर समन्वय रखता है। यदि मनुष्य मस्तिष्क व हृदय दोनों का समन्वय करके कार्य करे तो उसे दुष्वप्न्य आदि बुरे विचार आक्रान्त नहीं कर सकते। क्योंकि वह केवल हृदय के आवेग (Emotions) से प्रभावित नहीं होता और नाहीं मस्तिष्क की तर्क-वितर्क प्रक्रिया में ही लगा रहता है। दोनों में से नितान्त-रूप से किसी एक का ही अवलम्बन करने से मनुष्य दुष्वप्न्य आदि के शिकार बनते हैं। अतः दुष्वप्न्यों को दूर रखने के लिये मनुष्य को अथर्वा बनने का प्रयत्न करना चाहिये।

शत. ६।४।२।१ में प्राणों को भी अथर्वा कहा है। वहां इस प्रकार आता है—

'अथर्वा त्वा प्रथमो निरमन्थदग्ने इति प्राणो व अथर्वा'

अर्थात् हे अग्नि! पहले तुझे अथर्वा अर्थात् प्राण ने मथा इसलिये प्राण अथर्वा हैं। प्राणों को अथर्वा कहने का भाव यह है कि, जिस मनुष्य के प्राण जितने शक्तिशाली होते हैं, वह उतना ही स्थिर प्रकृति होता है। शारीरिक व मानसिक क्षीणताएं प्राणों की क्षीणता के कारण ही होती हैं। अतः दुष्वप्न्यों को दूर करने वालों को चाहिये कि वे प्राणों को खूब शक्तिशाली बनावें।

अथर्वा अथर्ववेद के ज्ञाता को भी कहते हैं। अथर्ववेद का दूसरा नाम ब्रह्मवेद है। ब्रह्म परमात्मा और प्रकृति आदि की महिमा, महानता आदि का इस में वर्णन है। इनको जानकर मनुष्य स्वार्थरहित, उदारचित्त तथा स्थिर-प्रकृति बनता है। और इस प्रकार दुष्वप्न्यों का विनाश करता है।

आगे आता है कि—

स आथर्वणानां पाशान्मा मोचि। ॥ १६ ॥

अर्थात् वह दुष्वप्न्य आथर्वणों के पाश से न छूटे।

आथर्वण अथर्वा के पुत्र कहला सकते हैं। अर्थात् जो वंश-परम्परा के आधार पर स्थिर-प्रकृति हों, उन्हें आथर्वण कहा जा सकता है। ये आथर्वण अपनी वंश-परम्परा के आधार

पर स्थिर-प्रकृति की वह शक्ति अपने पास रखते हैं, जिससे वे मनुष्यों के दुःस्वप्नों को आसानी से दूर कर सकते हैं। दूसरे शत. ६।४।२।३ में वाक् को अथर्वा का पुत्र कहा गया है। वहां आता है कि—

पुत्र ईधे अथर्वण इति वाग्वै दध्यङ्ङाथर्वणः।
स एनं तत् ऐंद्ध वृत्रहणं पुरन्दरमिति पाप्मा ॥
वै वृत्रः पाप्महतं पुरन्दरमित्येतत्'।

अर्थात् पाप्मा वृत्र है। इन वृत्रों का हनन करने वाली आत्मिक अग्नि पुरन्दर है। यह आत्मिक अग्नि अथर्वा (ब्रह्मवेत्ता) के वाक् अर्थात् ज्ञान से प्रदीप्त की जाती है। ब्रह्मज्ञान से प्रदीप्त आत्मा को दुःस्वप्न्य आक्रान्त नहीं कर सकते।

आगे मन्त्र में कहा कि -

स वनस्पतीनां पाशान्मा मोचि ॥ १८ ॥

अर्थात् वह दुःस्वप्न्य वनस्पतियों के पाश से न छूटे।

हम पहले यह देख चुके हैं कि, सम्पत्ति के अभाव में मनुष्यों को नाना भांति के दुःस्वप्न्य आया करते हैं। परन्तु जिस के पास वनस्पति तथा अन्न का भण्डार खूब भरा पड़ा हो, उसकी वनस्पतियां आदि खूब फलती फूलती हों, उसे दुःस्वप्न्य नहीं आयेंगे। दुःस्वप्न्यों को वनस्पतियों के पाश में बांधने का यही भाव है।

आगे कहा कि—

स वानस्पत्यानां पाशान्मा मोचि ॥ १९ ॥

अर्थात् वह दुष्वप्न्य वानस्पत्यों के पाश से न छूटे।

वानस्पत्य वनस्पतियों से उत्पन्न पदार्थों को कहते हैं। यह सम्भव है कि, एक मनुष्य के पास ओषधि, वनस्पति आदि धन, धान्य प्रभूत मात्रा में हो, परन्तु उनसे पदार्थों का निर्माण तथा उपयोग न जानता हो, तो केवल वनस्पति व ओषधी आदि के भण्डार उसे दुष्वप्न्य से नहीं बचा सकते। जिस मनुष्य को गेहूँ से रोटी बनानी नहीं आती और जड़ी बूटियों से औषध निर्माण करना नहीं आता, वह उनसे सुख नहीं प्राप्त कर सकता। क्योंकि एक वनस्पति व ओषधि अपने पूर्वरूप में विषका प्रभाव रखती है, वही औषधरूप में परिणत होकर अमृत का प्रभाव दिखाती है। इसी प्रकार सभी वनस्पतियों व ओषधियों के सम्बन्ध में कहा जा सकता है। अतः इनका निर्माण व उपयोग पता होने पर मनुष्य अपने को स्वस्थ रख सकता है और दुष्वप्न्यों के आक्रमण से बच सकता है।

आगे कहा है कि-

स ऋतूनां पाशान्मा मोचि ॥ २० ॥

अर्थात् वह दुष्वप्न्य ऋतुओं के पाश से न छूटे।

अब विचारणीय यह है कि, ऋतु दुष्वप्न्यों को अपने पाश

में किस प्रकार बांध सकती है ? हम देखते हैं कि, वनस्पति आदि धनधान्य का कम व प्रभूत मात्रा में होना, नाना व्याधियों की उत्पत्ति व विनाश तथा मनुष्यों के अन्य सुख व दुःख ये सब ऋतुओं पर आश्रित हैं। वसन्त, ग्रीष्म. वर्षा आदि ऋतुएं ठीक समय पर तथा उचित मात्रा में हों तो धन धान्य प्रभूत मात्रा में होगा। और बीमारियों का भी विशेष प्रकोप न होगा। परन्तु इसके विपरीत ऋतुओं में अव्यवस्था हो जाये तो धन-धान्य कम होगा और नाना व्याधियों की उत्पत्ति हो जायेगी। इस का परिणाम यह होगा कि-मनुष्य नाना भांत के दुःस्वप्नों में फंस जायेंगे। अतः दुष्वप्न्यादि दोषों के निवारण के लिये यह आवश्यक है कि, ऋतुओं का ज्ञान प्राप्त किया जाये। परन्तु यहां यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि, केवल ऋतुज्ञान ही पर्याप्त नहीं, अपितु आवश्यकतानुसार ऋतु-निर्माण भी मनुष्य-समाज कर सकता हो। हमारे प्राचीन शास्त्रों में ऋतुओं पर नियन्त्रण करने का विधान मिलता है। उदाहरणार्थ-उचित मात्रा में वृष्टि करने, अतिवृष्टि व अनावृष्टि को रोकने का उपाय यज्ञ × द्वारा किया जाता था।

और फिर ऋतुसन्धियों में फैलने वाली बीमारियों को दूर करने के लिये बड़े बड़े भैषज्य यज्ञों का भी वर्णन मिलता है। गो. उ. १।१९ में कहा है कि, "ऋतुसन्धिषु वै व्याधिर्जायते"

× अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

अर्थात् ऋतुसन्धियों में व्याधियां उत्पन्न हो जाती हैं। इसी प्रकार और भी ब्राह्मणों में ऋतुसन्धि में व्याधि उत्पन्न होने का वर्णन मिलता है। कौ ५।१ में कहा गया है कि, "भषज्ययज्ञा व एते यच्चातुर्मास्यानि तस्मादृतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते" अर्थात् भैषज्य-यज्ञ ऋतुसन्धयों में किये जाते हैं। कहने का भाव यह है कि, मनुष्य को यह पता होना चाहिये कि, ऋतुओं में बीमारियां कब फैलती हैं? और उन्हें किस प्रकार नियन्त्रण में करना चाहिये? केवल इतना ही नहीं प्राचीन शास्त्रकारों ने ऋतुओं का खूब गहराई तक विवेचन किया हुआ था श. प. ब्रा. २।१।३ में आता है।

वसन्तो ग्रीष्मो वर्षा तं देवा ऋतवः शरद्धे मन्तः
शिशिरस्ते पितरो य एवापूर्यतेऽर्धमासः स देवो
योऽपक्षीयते स पितराऽहरेव देवा रात्रिः पितरः
पुनरन्हः पूर्वाह्णो देवा अपराह्णः पितरः ,"

अर्थात वसन्त ग्रीष्म और वर्षा ये देव ऋतु कहलाती हैं और शरद्, हेमन्त और शिशिर ये पितर कहलाती हैं। देव ऋतुओं का आपूर्णता से सम्बन्ध है और पितर ऋतुओं का अपक्षय से। इसी प्रकार मास का आधा भाग (शुक्लपक्ष) देव है, और अवशिष्ट कृष्णपक्ष पितर हैं। इसी प्रकार दिन देव हैं और रात्रि पितर है। दिन में भी प्रथम आधा भाग देव है और अगला आधा भाग पितर है।

प्रश्न यह है कि, ऋतुओं को देव, पितर कहने का क्या भाव है? इस के उत्तर में हम यह कह सकते हैं कि देव ऋतु वृद्धि की द्योतक हैं उस समय हमें अपनी वृद्धि के उपाय करने चाहियें और इस में कभी न चूकना चाहिये। और पितर ऋतु क्षीणता के द्योतक हैं। इस समय हमें क्षीणता के बचाव के उपाय करने चाहियें। इस प्रकार देव और पितर ऋतुओं में हमें किस समय क्या करना चाहिये? इत्यादि बातों का हमें सूक्ष्म ज्ञान होना चाहिये। ऋतु-ज्ञान न होने पर मनुष्य कई दुःखों व आपत्तियों का शिकार बन सकता है और इस प्रकार दुष्वप्न्य से आक्रान्त हो सकता है। इस लिये दुष्वप्न्यादि दोषों को दूर रखने के लिये ऋतुज्ञान होना आवश्यक है।

आगे मन्त्र में कहा है कि--

स आर्तवानां पाशान्मा मोचि ॥ २१ ॥

अर्थात् वह दुष्वप्न्य आर्तवों के पाश से न छूटे।

आर्तव ऋतुधर्मों व ऋतुओं के गुणों को कहते हैं। तां. २५।१८।४ के अपने भाष्य में सायणाचार्यने आर्तवों के सम्बन्ध में लिखा है कि, "आर्तवाः शीतोष्णवर्षाभिमानिनः" अर्थात् शीत उष्ण और वर्षादि जो ऋतुओं के धर्म व गुण हैं, उन्हें आर्तव कहते हैं। मनुष्य को यह पता होना चाहिये कि, ऋतुओं में होने

वाले शीतोष्ण आदि का दैनिक जीवन में किस प्रकार उपयोग किया जा सकता है। शीत से लाभ व हानि क्या हैं? इसी प्रकार उष्णता व वर्षा से क्या लाभ व हानियाँ हैं? इन के लाभों को किस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं? और इन से उत्पन्न रोगों से अपने आप को किस प्रकार बचा सकते हैं? इत्यादि बातों के ज्ञान प्राप्त करने से मनुष्य कष्टों व आपत्तियों से आसानी से बच सकता है। इस से पूर्व मन्त्र में तो ऋतु-ज्ञान व ऋतु नियन्त्रण की मुख्यता थी। इस मन्त्र में उन के गुणधर्मों से लाभ उठाने वाले व दोषों से बचने का मुख्यतया वर्णन है।

आगे कहा कि—

स मासानां पाशान्मा मोचि ॥ २२ ॥

अर्थात् वह दुष्ट स्वप्न मासों के पाश से न छूटे।

अब विचारणीय यह है कि, स्वप्न मासों के पाश में किस प्रकार बंध सकता है? ऊपर हम यह देख चुके हैं कि, ऋतु-ज्ञान व ऋतु-नियन्त्रण से मनुष्य कई प्रकार के कष्टों से बचा रहता है। इसी प्रकार मासों के समुचित ज्ञान से भी मनुष्य कई प्रकार की विपत्तियों से बचा रह सकता है। किन्तु यहां शंका तो यह होती है कि, ऋतु आ जाने से मास के कहने की क्या आवश्यकता थी? क्योंकि ऋतुओं का निर्माण मासों से ही होता

है। यही प्रश्न अर्धमास, अहोरात्र आदि के सम्बन्ध में भी किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में हमारे विचार ये हैं कि, संवत्सर तो एक काल है। इस में छोटे २ कालों की दृष्टि से कई विभाग हो सकते हैं। परन्तु ऋतु-विभाग काल की दृष्टि से विभाग नहीं है। ऋतुओं के अपने शीत, उष्ण वर्षा आदि गुणधर्म हैं, उन गुणधर्मों के आधार पर ऋतु विभाग किया गया है। इस लिये ऋतुओं का वर्णन पृथक् होना ही चाहिये।

इसी प्रकार मास-विभाग, चन्द्रमा तथा चित्रादि नक्षत्रों के आधार पर होता है। किन २ नक्षत्रों में मनुष्य के क्या २ कर्तव्य हैं, यह ब्राह्मणादि ग्रन्थों में बहुत स्पष्ट रूप से वर्णन आता है। श. प. ब्रा. ११।२।७ में संवत्सर आदि के सम्यक् ज्ञान का फल बताते हुए मास का इस प्रकार वर्णन किया है।

'मासा हवींषि। स यो ह वै मासा हवींषीति वेदांते हैवास्य मासानामिष्टं भवत्यथो यत्किंच मासेषु क्रियते सर्वं हैवास्य तदाप्तमवरुद्धमभिजितं भवति। (श. प. ११।२।७।३)

अर्थात संवत्सर यज्ञ है। मास हवियां हैं जो मासों का हविरूप समझ जाता है, वह मासों से जो इष्ट होता है, वह प्राप्त करता है। और जो कुछ मासों में किया जाता है, वह सब करने वाले को प्राप्त होता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी मासों का वर्णन देखा जा सकता है।

उपर्युक्त प्रकरण का तात्पर्य यह है कि, मास में क्या २ करना और क्या २ न करना, इत्यादि बातों का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त हो जाने पर मनुष्य को इष्ट की प्राप्ति हो जाती है। और जो विपत्तियां आनी होती हैं, उन को वह रोक देता है और जो अवश्य आ ही जाती हैं, उन पर वह विजय प्राप्त कर लेता है।

इस लिये दुष्वप्न्यादि दोषों को दूर करने के लिये मासों का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

इसी प्रकार मासों में भी और सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त करने के लिये अर्धमासों का वर्णन किया गया है। वह इस प्रकार है।

स अर्धमासानां पाशान्मा मोचि ॥ २३ ॥

अर्थात् वह अर्धमासों के पाशों से न छूटे।

अर्धमासों में एक पूर्णमासी और दूसरी अमावस्या है। पूर्णमासी का सम्बन्ध देव से और अमावस्या का पितर से है। ब्राह्मण ग्रन्थों में कई यज्ञ पूर्णमासी से सम्बन्ध रखते हैं और कई अमावस्या से। पूर्णमासी में यज्ञों का विधान प्राप्तव्य वस्तुओं को अधिक से अधिक मात्रा में प्राप्त करने का उपाय बताने वाला है। और अमावस्या के यज्ञ अपक्षय अर्थात् विनाश से बचाने वाले हैं। इसी दृष्टि से मास के अन्त में हमें अपना पिछला गतिविधि का सारा हिसाब देखना चाहिये कि, हम

कहां तक उन्नति कर सके हैं ? अमावस्या का अर्धमास अपक्षय करने वाला है और पूर्णमासी का अर्धमास उन्नति करने वाला है।

एक मास में अपक्षय और उन्नति दोनों होती हैं। इस लिये मास के अन्त में हमें अपना परीक्षा फल देख लेना चाहिये।

इसके द्वारा हमें अगले मास के अर्धमासों में किन किन बातों का ध्यान रखना चाहिये, यह पता चल सकता है। आगे कहा कि—

सोऽहोरात्रयोः पाशान्मा मोचि ॥२४॥

अर्थात् वह दुष्ट स्वप्न दिन और रात्रि के पाश से न छूटे।

विचारणीय यह है कि, दिन और रात्रि दुष्वप्न्य को अपने पाश में किस प्रकार बांध सकते हैं। दिन और रात्रि के पाश में दुष्वप्न्य को बांधने का भाव यह है कि, मनुष्य को अपनी दिनचर्या और रात्रिचर्या ठीक रखनी चाहिये। जिस मनुष्य की दिनचर्या तथा रात्रिचर्या आदि नियमित होगी, वह कभी दुष्वप्न्यादि दोषों से पीड़ित नहीं हो सकता। उदाहरण के तौर पर ब्राह्म मुहूर्त का समय परमात्मा का गुणगान करने का है। उस समय यदि कोई विषयभोग के

राग आलापने लगे तो यह समयोचित कार्य न होगा। इसी प्रकार भोजन के समय भोजन करना, रात्रि में देरतक जागरण न करना इत्यादि दिनचर्या के कर्तव्यों की सूक्ष्मता को न समझते हुए जो भी आहार-व्यवहार आदि कार्य करते हैं, वे दुष्वप्न्य आदि से अपने को नहीं बचा सकते।

यह सम्भव है कि, मनुष्य ऋतु-अनुकूल-आहार व्यवहार करते हों और यह भी सम्भव है कि, मास व अर्धमास आदि का भी अपने आहार विहार आदि में ख्याल रखते हों, परन्तु वे दिन और रात की दिनचर्या आदि की सूक्ष्मता को न समझें, और इन से हानि उठावें। जैसा कि शत. २।१।३।१ में कहा है कि, "अहरेव देवाः रात्रिः पितरः" अर्थात् दिन देव और रात्रि पितर। इस से स्पष्ट है कि, दिन में देव-कार्य करने चाहियें और रात्रि में पितर-कार्य। दिन और रात्रि का शरीर के ऊपर क्या २ प्रभाव है, यह विचारणीय है।

परन्तु मन के ऊपर तो इनका प्रभाव स्पष्ट है। दिन की अपेक्षा रात्रि को मनुष्य का मन ज्यादह पतन की ओर जाता है। और फिर रात्रि में अन्धकारादि के कारण राक्षस, डाकू चोर आदि का ज्यादह भय रहता है। अतः दिन और रात्रि में देव और पितर के आधार पर पृथक २ कर्तव्य हैं। दिन में ज्ञान-प्राप्ति, परोपकारादि उत्तम कार्यों में अपने को लगाना चाहिये। तथा रात्रि में रक्षा आदि साधनों द्वारा अपने विनाश से बचने का उपाय करना चाहिये। इस प्रकार जो मनुष्यअपनी दिन-

चर्या और रात्रिचर्या ठीक रखेगा वह दुष्वप्न्यादि दोषों से बचा रहेगा।

अगला मन्त्र है—

सोऽह्नोः संयतोः पाशान्मा मोचि। ॥ २५ ॥

अर्थात् वह दुष्वप्न्य मिले हुए दो दिनों के पाश से न छूटे।

इस मन्त्र में मिले हुए दो दिनों का क्या भाव है? यह अभी विचारणीय है। शायद इस का भाव यह हो कि मनुष्य दुष्वप्न्य को जब दूर करने लगता है, तो वह शनैः शनैः दूर कर सकता है। पहले प्रयत्न कर के वह पूरे एक दिन से दुष्वप्न्य को निकाल बाहिर करता है। परन्तु अगले दिन वह फिर दुष्वप्न्य का शिकार बन जाता है। जो मनुष्य किसी दोष को दूर करने का प्रयत्न करते हैं, उन में प्रायः ऐसा ही होता है। परन्तु वेद मन्त्र द्वारा यह कहता है कि, दूसरे दिन भी दुष्वप्न्य न आने देवें। इस तरह से दिनों को जोड़ते चले जावें। इसका परिणाम यह होगा कि कुछ दिनों बाद दुष्वप्न्यरूपी दोष स्वयं दूर हो जायेगा। और हमें स्वयं आश्चर्य होगा कि, किस तरह से हम उस से अपने को मुक्त कर सके। यहां पर मुख्यतया "संयतः" शब्द अच्छाइयों की वृद्धि के भाव का द्योतक है। उदाहरण के तौर पर भगवान् की भक्ति को लें। हम प्रायः यह देखते हैं कि एक दिन भगवान की भक्ति में हृदय परिपूर्ण होता है तो दूसरे

दिन भक्ति का नाम नहीं। परन्तु जब भक्ति के दिनों की कड़ी जुड़ने लगती है असली वृद्धि तभी होती है।

यह उपर्युक्त भाव 'संयतोः' शब्द से अच्छी प्रकार समझ में आ सकता है। 'संयतः' शब्द का एक अर्थ तो 'मिलना' ऐसा है। और दूसरा अर्थ है अच्छी प्रकार नियन्त्रित। इसका भाव यह हुआ कि जो मिले हुए दो दिनों को अच्छी प्रकार नियन्त्रित कर लेता हो, दुष्वप्न्य उस के पास नहीं आ सकता।

स द्यावापृथिव्योः पाशान्मा मोचि। २६॥

अर्थात् वह स्वप्न द्यावापृथिवी के पाश से न छूटे।

स्वप्न को द्युलोक व पृथिवीलोक के पाश में बांधने का तात्पर्य यह है कि, इन दोनों का ज्ञान प्राप्त करके इन से लाभ उठाया जाये। इन दोनों लोकों का परस्पर बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। वर्षा आदि सब ऋतुएं द्युलोक के प्रभाव से होती हैं। तथा सब वनस्पति ओषधियां द्युलोक में स्थित सूर्य तथा चन्द्रमा आदि के सामर्थ्य से ही पैदा होती हैं। वेद में द्युलोक को हमारा पिता कहा गया है और पृथिवी को माता। और हम इन दोनों द्यावापृथिवी के पुत्र हैं। इस लिये पालन-पोषण करने वाले इन द्यावापृथिवीरूपी पितरों का ज्ञान प्राप्त कर के भी हम सुखी हो सकते हैं। वेद ने भी यही कहा है।

ऋ० १।१५६।२ द्यावापृथिवी वाले सूक्त में आता है कि--

उत मन्ये पितुरद्रुहो मनो मातुर्महि स्वतवस्तद्धवीमभिः ।

सुरेतसा पितरा भूम चक्रतुरुरु प्रजाया अमृतं वरीमभिः ॥

अर्थात् मैं द्रोह-रहित हुआ २ पिता माता के मन को स्तुति योग्य गुणों के कारण महान् तथा शक्तिशाली मानता हूँ । उत्तम वीर्य वाले ये द्यावापृथिवीरूपी जो पितर हैं, ये श्रेष्ठ उपायों से अपनी प्रजा के लिये अमृत-स्वरूप अन्न बहुतायत में पैदा करते हैं ।

इस मन्त्र में द्यावापृथिवी को माता पिता कहा गया है और यह भी निर्देश किया गया है कि ये दोनों ही मनुष्यों का अन्नादि द्वारा पालन-पोषण करने वाले हैं ।

परन्तु इन को पितर बनाना मनुष्य के बहुत कुछ अपने अधीन भी है । सूर्य चन्द्रमा तथा नक्षत्रादि आकाशीय पिण्डों का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके हम उन से लाभ उठा सकते हैं । यथा सूर्य व चन्द्रमादि आकाशीय पिण्डों का पृथिवी पर क्या प्रभाव होता है ? ऋतुएं कैसे परिवर्तित होती हैं ? चन्द्रमा के कारण समुद्र में होने वाले ज्वार भाटे आदि का क्या सिद्धान्त है ? इत्यादि बातों का ज्ञान हो तो आधिदैविक विपत्तियों से मनुष्य आसानी से बच सकता है । इसी प्रकार पृथिवी के सम्बन्ध

में भूगर्भविद्या, कृषि-विद्या आदि पृथिवी से सम्बन्ध रखने वाली सब विद्याओं का उसे ज्ञान होना चाहिये। इस प्रकार द्यावा-पृथिवी सम्बन्धी सब बातों का ज्ञान होने पर मनुष्य दुष्वप्न्यों का शिकार होने से बच सकता है।

आगे कहा है कि–

स इंद्राग्न्योः पाशान्मा मोचि ॥२७॥

अर्थात वह स्वप्न इंद्र और अग्नि के पाश से न छूटे। इस स्थल पर इद्र और अग्नि से तात्पर्य आत्मा व तदनुकूल मन में प्रज्वलित की हुई सांकल्पिक संकल्पाग्नि से है। यदि मनुष्यों में आत्मानुकूल अग्नि प्रज्वलित हो तो मनुष्य को दुष्वप्न्य कभी नहीं आ सकते। यहां इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि, इन्द्र और अग्नि का सहचार किसी विशेष प्रयोजन के लिये है। और वह यह कि, मन में अग्नि तो किसी बुरे उद्देश्य के लिये भी प्रज्वलित की जा सकती है। परन्तु इन्द्राग्नी दोनों का सहचार इस बात को सिद्ध करता है कि, अग्नि आत्मा के अनुकूल प्रज्वलित होनी चाहिये।

दूसरा इस का अर्थ यह भी हो सकता है कि, इन्द्र अर्थात् आत्मा खूब शक्तिशाली तथा ऐश्वर्यसम्पन्न हों और

शरीर को नीरोग तथा साम्यावस्था में रखने वाली उदराग्नि भी ठीक प्रज्वलित होती हो, तो उस मनुष्य को भी स्वप्नादि दोष नहीं सता सकते। क्योंकि आत्मशक्ति उस की प्रबल है और ऐश्वर्यसम्पन्न है, बुरी इच्छाएं तथा बुरे विचार उस में नहीं उठ सकते। उस में स्वप्नादि दोष हो ही नहीं सकते। दूसरे शरीर की विषमावस्था अर्थात् रुग्णावस्था के कारण जो स्वप्नादि दोष होते हैं, वे इसलिये नहीं हो सकते; क्योंकि उसकी उदराग्नि ठीक प्रज्वलित रहती है। जो मनुष्य रात को बहुत भारी भोजन कर ले और उस पर उसकी उदराग्नि भी ठीक प्रज्वलित न हो तो भोजन के परिपक्व न होने से उसे रात्रि को स्वप्न आएंगे। और जिसकी उदराग्नि सदा बिगडी रहती है, उस का तो कहना ही क्या ? इन्द्र आत्म-शक्ति अर्थात् श्रेष्ठ विचारों का द्योतक है और अग्नि उदराग्नि का। इस से यह भी पता चलता है कि, जिस के विचार ठीक न हों, उस की उदराग्नि भी ठीक नहीं रहती।

तीसरे राष्ट्र-पक्ष में इन्द्र क्षत्र-शक्ति का प्रतिनिधि है और अग्नि ब्राह्मण-शक्ति का प्रतिनिधि है। जिस राष्ट्र में यह दोनों शक्तियां परस्पर एक दूसरे का सहयोग करती हुई अपना कार्य सुचारु रूप से करती हैं, वहां राष्ट्र सब प्रकार

से सुखी व उन्नत होता है। ऐसे राष्ट्र की प्रजा में दुष्वप्न का होना असम्भव है।

आगे कहा है कि—

स मित्रावरुणयोः पाशान्मा मोचि ॥२६॥

अर्थात् वह स्वप्न मित्र और वरुण के पाश से न छूटे।

मित्र-वरुण दोनों का एक अर्थ तो प्राण और अपान है। तां० ६।१०।५,७, तै० ३।३।६।६ में मित्रावरुण के सम्बन्ध में लिखा है कि—

"प्राणापानौ मित्रावरुणौ"

अर्थात् प्राण और अपान मित्रावरुण हैं। इस से यह भाव टपकता है कि, जिस मनुष्य के प्राण और अपान ठीक कार्य करते हैं, उसे स्वप्नादि दोष नहीं सता सकते। दूसरे इन दोनों के कार्य से भी हम इस भाव को स्पष्ट कर सकते हैं। वह यह कि प्राण का कार्य है शक्ति-संचय करना और अपान का कार्य है, मल अर्थात् दोषादियों को दूर करना। जिस मनुष्य के शरीर में सदा सुचारु रूप से शक्ति-सञ्चय होता रहता है और मलादि दोष ठीक ठीक बाहर हो जाते

हैं, वह सदा स्वस्थ रहता है। उसे स्वप्नादि दोष नहीं सता सकते। इसी प्रकार मानसिक क्षेत्र में भी यही नियम कार्य करता है अर्थात जो मनुष्य अच्छी अच्छी बातों का तो संग्रह करता रहता है और दोषों को पकड़ पकड़ कर बाहर निकाल देता है, उस का मन सदा स्वस्थ रहता है। उसे कभी भी बुरे विचार तथा स्वप्नादि दोष नहीं सता सकते।

और जिस मनुष्य में श्रेष्ठ पुरुषों व अच्छी बातों के प्रति मैत्रीभाव और दुष्ट-मनुष्यों तथा बुरी बातों के प्रति वरुण-भाव अर्थात् हिंसक भाव होता है, वह भी दुष्वप्नों का शिकार नहीं बन सकता।

यही उपर्युक्त बातें यदि राष्ट्र में हों, तो उस राष्ट्र की प्रजा में भी दुष्वप्न नहीं हो सकते। फिर कहा है कि—

रु राज्ञो वरुणस्य पाशान्मा मोचि ॥२७॥

अर्थात् वह स्वप्न राजा वरुण के पाश से न छूटे।

एक तो राजा वरुण का अर्थ परमात्मा है जैसा कि,

अथर्व० ४।१६।४२ में कहा है कि—

द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते तद्राजा वेद वरुणस्तृतीयः ॥

अर्थात् जो दो आपस में एकान्त में बैठ कर सलाह कर रहे होते हैं, उन में तीसरा राजा वरुण भी सुन रहा होता है।

इस प्रकार राजा वरुण का एक अर्थ परमात्मा भी है। स्वप्न को पाश में बांधने वाला परमात्मा का वरुणरूप ही हो सकता है। इसलिये प्रत्येक को परमात्मा के उग्र स्वरूप का सदा स्मरण रखना चाहिये। जो मनुष्य परमात्मा के उग्र वरुण रूप को जानता है, वह कभी दुष्वप्नादि दोषों में फंस नहीं सकता। उसे पता रहता है कि, परमात्मा वरुणरूप में मुझे अवश्य दण्ड देगा। इसलिये कहा है कि, वह स्वप्न वरुण के पाश से न छूटे।

दूसरे राजा वरुण सामान्य राष्ट्र का अधिपति भी हो सकता है। उस का वरुण-विभाग दुष्टों को पकड़ने तथा उन्हें दण्ड देने का कार्य करता है। शत० १२।७।२।१७ में कहा है कि—

वरुणो वा एतं गृह्णाति यः पाप्मना गृहीतो
भवति ॥

अथात् वरुण उसे पकड़ लेता है, जो पाप से ग्रस्त होता है। राष्ट्र में राजा वरुण का कार्य यह है कि, वह दुष्टों व पापियों को अपने पाश में बांध ले। जब प्रजा को यह भय होता है कि राष्ट्र का अधिपति राजा वरुण पाप करने पर पकड़ लेता है, तो प्रजा पाप की ओर मुंह भी नहीं उठाएगी। इस प्रकार वह स्वप्नादि दोषों से बच सकती है।

ऊपर हमने स्वप्नसम्बंधी आठवां सूक्त देखा। अब हम नौवें सूक्त पर भी विचार करते हैं। जब हमने स्वप्नरूपी शत्रु पर विजय प्राप्त कर ली, तब विजयोत्तर हमारी क्या दशा होनी चाहिए, यह नौवें सूक्त में संक्षेप में दर्शाया गया है। अब हम क्रमशः नौवें सूक्त पर भी विचार करते हैं। प्रथम मन्त्र इस प्रकार है—

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमभ्यष्ठां विश्वाः पृतना अरातीः।
(अ० १६।६।१)

अर्थात् हमारी स्वप्नरूपी शत्रु पर विजय हो गई है।

हमने विकास प्राप्त किया है। सम्पूर्ण जितनी अराती सेनाएं थीं, उनको हमने रोक दिया है।

यहां 'उद्भिन्नम' का अर्थ है कि अज्ञानरूपी अन्धकार या स्वप्नादि दोषों के आवरण को फोड़ कर हम ऊपर उठ आए हैं और पाप व स्वप्नादि दोषों की जितनी अराती सेनाएं हैं, उन को हमने बाहिर रोक दिया है। आगे कहा है कि—

'तदग्निराह तदु सोम आह पूषा मा धात्
सुकृतस्य लोके ॥ (अ० १६।६।१२)

अर्थात् अग्नि ने मुझे यह कहा है और सोम ने मुझे यह कहा है और उषा ने मुझे सुकृत के लोक में उठा कर रख दिया है।

उपर्युक्त मन्त्र के भाव को समझने के लिये हमें शतपथ ब्राह्मण के इस वाक्य पर ध्यान देना चाहिये। वह इस प्रकार है—

'द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति।
आर्द्रं चैव शुष्कं च, यच्छुष्कं तदाग्नेयं यदार्द्रं तत्सौम्यम् ॥'

अर्थात् दुनियां में दो ही चीजें हैं। एक आर्द्र, दूसरी शुष्क। जो शुष्क है वह आग्नेय है, और जो आर्द्र है वह सौम्य। अर्थात् यह संसार दो प्रकार के पदार्थों से निर्मित हुआ है। एक गीला और दूसरा सूखा। सूखा आग्नेय तत्त्व है और गीला सौम्य तत्त्व है। इस का तात्पर्य यह हुआ कि, प्रत्येक पदार्थ अग्नि और सोम-तत्त्वों से निर्मित हुआ है। जहां यह तत्त्व जितने जितने परिणाम में होंगे, वह पदार्थ वैसे वैसे ही गुणों वाला होगा। जिस में अग्नि-तत्त्व प्रधान होगा, वह आग्नेय कहलाएगा और जिस में सोम तत्व प्रधान होगा वह सौम्य कहलाएगा। इसी प्रकार शरीर दिमाग आदि में भी दोनों तत्त्व काम कर रहे हैं। जिस में अग्नि-तत्त्व अधिक प्रधान होता है, वह आग्नेय पुरुष कहलाता है और जिसमें सोम-तत्त्व प्रधान होता है, वह सौम्य कहलाता है।

वेद इस मन्त्र के आधार पर कहता है कि, दोनों आग्नेय और सौम्य तत्त्वों को इस परिमाण में करो कि जिस से स्वप्नरूपी शत्रु विनष्ट हो जाये। जिस मनुष्य के दिमाग में आग्नेय तत्त्व आवश्यकता से अधिक परिणाम

में हैं—और सोम तत्व इतना कम है कि वह कर्तव्या-कर्तव्य का निश्चय ठीक नहीं कर सकता, उसे अपना आग्नेय तत्व कुछ कम कर के सौम्य तत्व को बढ़ाना चाहिए। और जिस में सोम-तत्व आवश्यकता से अधिक प्रबल है और वह भी कर्तव्याकर्त्तव्य का निश्चय नहीं कर सकता, दोषरूपी शत्रु का मुकाबला नहीं कर सकता, उसे अपने में सौम्यतत्व कम कर के आग्नेय तत्व बढ़ाना चाहिये। इस प्रकार जब यह दोनों तत्व प्रत्येक व्यक्ति में अपने स्वभाव के अनुसार ठीक ठीक परिमाण में होंगे, तभी जाकर वह व्यक्ति स्वप्नादि दोषों को दूर करने में समर्थ होगा।

इसी प्रकार दुनियां में कोई पदार्थ जिस गुण (Quality) का भी बनाना हो, उस में उसी परिमाण में आग्नेय तथा सौम्य तत्वों का समावेश करना चाहिये।

आगे कहा है कि—.

पूषा मा धात्सुकृतस्य लोके॥

अर्थात् पूषा ने मुझे सुकृत् के लोक में लाकर रक्खा है।

सुकृत् के लोक का अर्थ है उत्तम कर्म करने वालों का लोक। लोक शब्द यहां पर समाज (Society) अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस का भाव यह हुआ कि, पूषा ने मुझे उत्तम कर्म करने वालों की समाज में ला रक्खा है। परन्तु पूषा कौन है, यह भी विचारणीय है। पूषा शब्द ही स्वयं अपने अर्थ को खोल रहा है। पूषा पुष्टि का प्रतिनिधि है। शत० ३।७।३।१ में आता है। 'पूष्टिर्वै पूषा' अर्थात् पूषा पुष्टि को कहते हैं जब स्वप्नादि शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली, तब हम आत्मिक मानसिक व शारीरिक क्षेत्र में स्वस्थ हो गए। तब स्वभावतः हमारे में पुष्टि अर्थात् पूषा की प्रधानता होगी।

उस अवस्था में पुष्टि अथात् पूषा हमें उत्तम कर्म करने के लिये प्रेरित करेगा। कोई भी विपत्ति क्यों न हो, उस का हम मुकाबला करेंगे। अवनति की ओर नहीं जाएंगे, सदा उत्तम कर्म ही करेंगे। कभी बुरे आदमियों की संगति न कर के श्रेष्ठ कर्म करने वालों की संगति करेंगे। इसी बात को वेद ने इस

प्रकार कहा है कि पूषा हमें उत्तम कर्म करने वालों की समाज में ला रक्खे।

आगे कहा है—

> अगन्म स्वः स्वरगन्म सं सूर्यस्य ज्योतिषागन्म।
> (अ॰ १६।६।३)

अर्थात हम दिव्य तेज को प्राप्त हों और फिर इस से दिव्य आनन्द को प्राप्त हों और सूर्य की ज्योति से युक्त हों।

इस मन्त्र में यह कहा गया है कि, हम 'स्वः' अर्थात् दिव्य तेज को प्राप्तकरें, जिस से कोई भी शक्ति हमें पराभूत न कर सके। और फिर दिव्य तेज प्राप्त कर के तथा सर्वतः अजेय हो कर हम दिव्य आनन्द को भोगें। और फिर सूर्य के समान ज्योति को प्राप्त करें। अर्थात् हमारे में वह ज्योति का प्रकाश हो, जिस से कि हम संसार में ज्योतिःस्तम्भ बन कर चहुँ ओर से अज्ञानान्धकार का निवारण करें।

आगे कहा है—

> वस्योभूयाय वसुमान् यज्ञो वसु वंशिषीय वसुमान्
> भूयासं वसु मयि धेहि। (अ॰ १६।६।४)

अर्थात् और भी अधिक ऐश्वर्यवान होने के लिये मेरा यज्ञ और भी वसुमान् हो। मैं ऐश्वर्य की इच्छा करता हूं, मैं ऐश्वर्य-वान् होऊं! हे प्रभो तू मुझे ऐश्वर्य धारण करा।

इस मन्त्र में यह कहा गया है कि, ऐश्वर्यवान् होने के लिये हमारा यज्ञ भी ऐश्वर्यवाला हो। ऐश्वर्य के लिये यहां पर 'वसु' शब्द का प्रयोग किया गया है। वसु' बसाने वाले ऐश्वर्य को कहते हैं। अर्थात् कोई भी कार्य क्यों न करें, वह ऐसा होना चाहिये, जिस से आध्यात्मिक, आधिभौतिकादि सब प्रकार का ऐश्वर्य प्राप्त हो। किसी भी आवश्यक पदार्थ का हमारे यहां अभाव न हो।

दशम अध्याय

———

दुःष्वप्न्य विनाश के अन्य उपाय

अथर्व. कां. १६ सू. ५७ में दुष्वप्न्य का वर्णन मिलता है और इस के विनाश के भी नाना प्रकार के उपाय बताये गये हैं। अब हम इस सूक्त की व्याख्या करते हैं। प्रथम मन्त्र इस प्रकार है-

यथा कलां यथा शफं यथर्णं संनयन्ति।
एवा दुष्वप्न्यं सर्वमप्रिये सं नयामसि।
(अ. १६।५७।१)

उपर्युक्त मन्त्र कुछ भेद से अथर्व. ६।४६।३ और ऋ. ८।४७।१७ में भी आ चुका है। अथर्ववेद के दोनों मंत्रों १६।५७।१ और ६।४६।३ में तो नाममात्र का भेद है। वहां केवलमात्र यह भेद है कि "अप्रिये" के स्थान पर "द्विषते"

ऐसा आता है । ऋग्वेद में कुछ और भी भिन्नता है, वह इस प्रकार है । "अनेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः" इसका तात्पर्य हमने ऋग्वेद के तत्सम्बन्धी मन्त्रों की व्याख्या करते हुए दिखा दिया है ।

अब मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है-

जिस प्रकार एक एक कला करके पूरी संख्या व पूर्ण चन्द्रमा समाप्त हो जाता है । और जिस प्रकार एक एक चरण कर के सम्पूर्ण मार्ग पार कर लिया जाता है । और जिस प्रकार थोड़ा थोड़ा करके सम्पूर्ण ऋण उतार दिया जाता है, उसी प्रकार दुष्वप्न्यों को थोडा थोडा कर के अपने ऊपर से उतार कर अप्रिय वस्तुओं व दुष्ट व्यक्तियों पर लगाते हैं ।

उपर्युक्त मन्त्र में उदाहरणों को देख कर दुष्वप्न्य -को शनैः शनैः विनष्ट करने का उपाय बताया गया है । कला, शफ तथा ऋण शब्दों से समझाने का प्रयत्न किया गया है । इन में पहिला कला शब्द है ।

कला—

कला अंश या संख्या को कहते है । जिस प्रकार बड़ी संख्या में से एक एक संख्या को कम करते जायें, अन्त में जाकर कुछ भी नहीं बचता, और जिस प्रकार एक घड़े में

से एक एक बूंद कम करते जायें, तो एक समय आकर वह घड़ा बिल्कुल खाली हो जाता है, और जिस प्रकार चन्द्रमा में एक एक कला घटने घटते एक समय आकर वह एक दिन विलुप्त हो जाता है। उसी प्रकार दुष्वप्न्य आदि को यदि हम एकदम विनष्ट न कर सकें, तो एक एक कला कर के उस को विनष्ट कर दें।

शफ--

जिस प्रकार एक एक कदम कर के सारा मार्ग तय कर लिया जाता है, उसी प्रकार दुष्वप्न्यरूपी शत्रु को समाप्त करने का जो मार्ग है, उस को एक एक कदम कर के पूरा कर लेना चाहिये।

ऋण

जिस प्रकार उधार लिया हुआ ऋण थोड़ा २ कर के सारा चुका दिया जाता है, उसी प्रकार दुष्वप्न्य को भी थोड़ा २ कर के अवश्य विनष्ट कर देना चाहिये।

इस प्रकार उपर्युक्त मन्त्र में उदाहरणों द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि, दुष्वप्न्य को हम किस प्रकार पूर्णतया विनष्ट कर सकते हैं। और फिर मन्त्र में 'अप्रिये' और 'द्विषते' शब्दों से यह भी बता दिया है कि, हमारे दुष्वप्न्य किस के प्रति होने चाहियें अथवा अपने में से हटा कर किन के प्रति भेज देने चाहियें। अर्थात जहां मनुष्य का स्वप्न व्यक्तिरूप से अपने तथा समाज के लिये हानिकर हैं, वहां वह दुष्वप्न्य है और वह किसी

भी प्रकार से अभीष्ट नहीं है। परन्तु जहां स्वप्न वैयक्तिक शत्रुओं तथा सामाजिक शत्रुओं के विनाश के लिये होता है, वहां वह अपने स्वरूप में तो दुष्वप्न्य है, परन्तु वह है भद्र प्रयोजन के लिये। इस लिये इन शत्रुओं के विनाश के लिये लिया गया स्वप्न अपने स्वरूप में अभद्र होता हुआ भी अभीष्ट है। इस से स्वप्नावस्था भी अक्षुण्ण बनी रहती है और दुष्वप्न्य भी विनष्ट हो जाते हैं।

"दुष्वप्न्यमप्रिये (द्विषते) सन्नयामास" इस मन्त्र के दो भाग हो सकते हैं। एक तो यह कि हम जो दुष्वप्न्य अपनी आत्मा के विनाश के लिये अथवा समाज के विनाश के लिये लेते थे, अब अप्रिय पदार्थों व समाज आदि के शत्रुओं के विनाश के लिये लेने लगें। इस अवस्था में दुष्वप्न्य हमारे अन्दर विराजमान रहते हैं, परन्तु वे अप्रिय पदार्थों व शत्रुओं के ही विनाश के लिये होते हैं। दूसरा भाव इस वाक्य का यह हो सकता है कि दुष्वप्न्य हमें छोड़ कर हमारे शत्रुओं में जा पहुँचे हैं। अर्थात् हमने इतना शक्तिसञ्चय कर लिया है। कि शत्रु पराभूत होकर दुष्वप्न्य लेने लग गये हैं। इस मन्त्र में दुष्वप्न्य को दूर करने के लिये कला, शफ, तथा ऋण शब्द दिये गये हैं। इन से एक भाव और भी टपकता है, वह यह कि कला शब्द दुष्वप्न्य की मात्रा को सूचित करता है। अर्थात् हम एक एक कला कर के दुष्वप्न्य को विनष्ट कर दें। शफ शब्द विनाश करने के प्रकार को सूचित करता है। अर्थात एक एक कदम चल कर हम बुरे स्वप्न का विनाश कर दें। ऋण शब्द अवश्यम्भाविता को सूचित करता

है। अर्थात् जिस प्रकार ऋण अवश्य चुकाना होता है, उसी प्रकार दुष्वप्न्य के सम्बन्ध में भी यही भावना होनी चाहिये कि यह दुष्वप्न्य अपने ऊपर से अवश्य उतारना है।

दुष्ट स्वप्नों का सैन्यसंग्रह--

प्रथम मन्त्र में दुष्वप्न्यों को दूर करने के उपाय बताये गये थे। अब द्वितीय मंत्र में यह बताया गया है कि, दुष्ट स्वप्न आत्मतत्व से लड़ने के लिये किस प्रकार शक्तिसंचय करते रहते हैं। मन्त्र में राजा आदियों के उदाहरणों द्वारा समझाने का प्रयत्न किया है।

मन्त्र इस प्रकार है--

सं राजानो अगुः समृणान्यगुः सं कुष्ठा अगुः सं कला
अगुः। समस्मासु यद् दुष्वप्न्यं निर्द्विषते दुष्वप्न्यं सुवाम।
(अ. १६।५७।२)

अर्थात जिस प्रकार राजा लोग युद्धकाल में बहुत से एकत्र हो जाते हैं। और जिस प्रकार ऋण जुड़ते जुड़ते बहुत बढ़ जाता है। और जिस प्रकार कुष्ट रोग होते होते सारे शरीर में फैल जाता है। और जिस प्रकार एक एक कला कर के संख्या पूरी हो जाती है अथवा चन्द्रमा पूर्ण हो जाता है, उसी प्रकार जो दुष्वप्न्य हमारे में एकत्रित हो गया है, उसको हम शत्रु के लिए दूर करते हैं।

मन्त्र में यह कहा गया है कि, जिस प्रकार राजा लोग शत्रु से लड़ने के लिये रणस्थली में एकत्रित हो जाते हैं, उसी प्रकार ये दुष्ट स्वप्न आत्म-तत्व से लड़ने के लिए मनुष्य के अन्दर एकत्रित होते रहते हैं। राजाओं का उदाहरण देकर मंत्र ने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि, दुष्वप्न्य शरीर के राजा आत्मा को युद्ध में पराजित कर इस शरीररूपी नगरी के स्वयं राजा बनना चाहते हैं। और जिस प्रकार ऋण बढ़ता बढ़ता बहुत हो जाता है और जब तक चुका न दिया जाये, तब तक वह किसी भी अवस्था में पिंड नहीं छोड़ता, उसी प्रकार यह दुष्वप्न्य शनैः शनैः बढ़ जाता है और जब तक इस का समूलोच्छेद न कर दिया जाय, तब तक यह मनुष्य का पीछा नहीं छोड़ता। और जिस प्रकार कुष्टरोग चमड़ी पर एक जगह होने के बाद यदि उसको दूर करने का प्रयत्न न किया जाये, तो मनुष्य के सम्पूर्ण शरीर को आक्रान्त कर लेता है, उसी प्रकार यह दुष्वप्न्य भी थोड़ा आने के पश्चात् यदि उस के निवारण के लिये समुचित उपाय न किया जाय, तो शनैः शनैः कुष्ट के समान बढ़ते बढ़ते आत्मा पर पूर्ण रूपेण अधिष्ठित हो जाता है। और जिस प्रकार एक एक संख्या बढ़ते बढ़ते एक समय आकर वह पूर्णता को प्राप्त हो जाती है, अथवा एक एक कला बढ़ते बढ़ते पूर्ण चंद्र बन जाता है, उसी प्रकार कला के सदृश एक एक मात्रा में बढ़ते बढ़ते वह दुष्वप्न्य पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। इसलिये मंत्र में कहा कि पापादि शत्रुओं पर इसे फैंक कर इसका समूलोच्छेद कर देना चहिए।

भद्र स्वप्न उपादेय है—

अगले मंत्र में अच्छे स्वप्न का भी वर्णन किया गया है और उसको उपादेय बताया गया है।

मंत्र इस प्रकार है—

देवानां पत्नीनां गर्भ यमस्य कर यो भद्रः स्वप्न।
स मम यः पापस्तद् द्विषते प्र हिण्मः।
मा तृष्टानामसि कृष्णशकुनेर्मुखम्।
(अ. १६।५७।३।)

हे भद्र स्वप्न! देव पत्नियों का तू गर्भ है। यम का करने वाला है। हे स्वप्न! जो तेरा भद्र रूप है, वह मेरा है और जो पाप रूप है, उसे हम शत्रु के लिये भेजते हैं। हे भद्र स्वप्न! तृषितों अर्थात् विषय लोलुपों के लिये काले पक्षी कौवे का मुख मत हो।

इस मन्त्र में अच्छे स्वप्नों को देवपत्नियां का गर्भ बताया गया है। वैदिक शास्त्रों में देवपत्नियां इन्द्राणी वरुणानी आदि प्रसिद्ध हैं। इन देवपत्नियों के सम्बन्ध में विस्तार से फिर कभी लिखेंगे। यहां केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि देवपत्नियां मानसिक वृत्तियां या आत्मा की विविध शक्तियां हैं। दिव्य भावों को पैदा करने वाली, उन का पालन पोषण करने वाली वृत्तियां ही यहां देवपत्नियां कहला सकती हैं। महात्मा

मुंशीराम के मन में दिव्य भाव पैदा हुए कि वेदों की शिक्षा द्वारा आर्यजाति का उद्धार करना चाहिये। इन दिव्य भावों को पैदा करने व पालन पोषण करने वाली मानसिक वृत्तियों के गर्भ में प्राचीन गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली के उद्धार का स्वप्न पैदा हुआ और वह कालान्तर में कार्य में परिणत हो गया।

इसलिये भद्र स्वप्न कार्य में परिणत होने से पहले देवपत्नियों के गर्भ में विद्यमान रहता है। आगे कहा कि, हे स्वप्न! तू (यमस्य कर) यम का हाथ है, अथवा यम का करने वाला है। इन दोनों अर्थों में कोई विशेष भेद नहीं है, भाव दोनों का एक है। यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि शुभ स्वप्न तथा अशुभ स्वप्न की मृत्यु में बड़ा भेद है। शुभ स्वप्न मारता है, परन्तु वह मानसिक व शारीरिक शत्रुओं का हनन करता है और मानसिक व शारीरिक क्षेत्रों को अपने नियन्त्रण में रखता है। जिस प्रकार आचार्य को "मृत्यु" कहा है। वह शिष्य का हनन करता है। वह उसके शरीर का हनन नहीं, परन्तु उस के पापों का हनन करता है। उसी प्रकार शुभ स्वप्न दुर्गुणों का हनन करता है, जिससे देवों का प्राबल्य होता है।

दूसरी तरफ अशुभ स्वप्न भी मारता है, तथा मनुष्यों को अपने नियन्त्रण में रखता है। परन्तु वह आत्मिक शक्तियों का हनन करता है। असुरों का प्राबल्य होता है, तथा देवों का विनाश होता है। इस प्रकार देवों तथा असुरों की मृत्यु व नियन्त्रण में बड़ा भेद है।

आगे मन्त्र में कहा कि—

'मा तृष्टानामसि कृष्णशकुनेर्मुखम्'

अर्थात तृषित मनुष्यों का काले पक्षी (कौवे) का मुख मत हो।

मन्त्र का भाव यह है कि, जिस प्रकार काला पक्षी कौवा सदा तृषित व लालायित रहता है, कभी भी उस की तृप्ति नहीं, भक्ष्याभक्ष्य का कोई विचार नहीं, उसी प्रकार जो मनुष्य तृषित रहते हैं, भोग-विलास की उन की सदा इच्छा बनी रहती है। पाप पुण्य, हेय और उपादेय का कोई विचार नहीं। ऐसे भूखे लालची मनुष्यों के लिये हे भद्र स्वप्न! तू न हो। वास्तव में ऐसे विषय-लोलुप पुरुषों को भद्र स्वप्न कभी आ सकते ही नहीं।

भद्र स्वप्न द्वारा दुष्वप्न्य का विनाश।

अगले मन्त्र में दुष्वप्न्य को दूर करने के लिये एक और उपमा दी गई है। वह मन्त्र इस प्रकार है।

तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स त्वं स्वपनाश्व इव कायमश्व इव नीनाहम्।
अनास्माकं देवपीयुं पियारुं वप यदस्मासु दुष्वप्न्यं यद्गोषु यच्च नो गृहे॥

(अ. १६।५७।४)

अर्थात हे स्वप्न! हम तेरे उस स्वरूप को भलि भांति जानते हैं। हे भद्र स्वप्न! जिस प्रकार घोड़ा अपनी काठी व लगाम को तोड़ डालता है, उसी प्रकार तू भी हमारे अन्दर से, गौवों में से तथा घर में से जो हमारा अंग नहीं है, ऐसे उस देवों अर्थात दिव्य भावों को विनाश करने वाले हिंसक दुष्वप्न्य को छेद डाल, अर्थात् विनष्ट करदे।

इस मन्त्र में भद्र स्वप्न की ओर निर्देश करके कहा गया है कि, (तं त्वा तथा सं विद्म) हे स्वप्न! तेरे उस भद्र स्वरूप को हम भलि भांति जानते हैं। यहां पर मन्त्र में स्वप्न के भद्र स्वरूप की ओर संकेत है, क्योंकि इस भद्र स्वप्न से दुष्वप्न्य का विनाश करना है। इसलिये बुरे स्वप्नों के विनाश के लिये भद्र स्वप्नों को अपने अन्दर स्थान देना चाहिये। इस मन्त्र में एक और भी बात कही गई है कि, दुष्वप्न्य भद्र स्वप्नों को उस प्रकार आक्रान्त किये होते हैं, जिस प्रकार घोड़ों को काठी कसे हुए होती है और लगाम उसे अपने नियन्त्रण में रखती है। इन दुष्वप्न्यों को अपने ऊपर से उतारने के लिये मन्त्र म भद्र स्वप्न से कहा गया है कि, (स्वप्नाश्व इव कायम्) हे स्वप्न! जिस प्रकार घोड़ा उछल कूदकर काठी को तोड़फोड़ डालता है और (अश्व इव नीनाहम्) लगाम को भी तोड़ डालता है, उसी प्रकार तू भी इन दुष्वप्न्यों को विनष्ट कर डाल। जिस मनुष्य को दुष्वप्न्य आते हों, उसे चाहिये कि किसी प्रकार भद्र स्वप्न को पैदा करके दुष्वप्न्य को एक दम ऐसा झटका दे कि जिस से मन का प्रवाह दूसरी ओर बहने लग जाये।

यहां पर 'कायम्' शरीर न होकर काठी है। क्योंकि इसे दुष्वप्न्य से उपमा दी गई है। और दुष्वप्न्य को 'अनास्माकम्' हमारा अङ्ग नहीं है, ऐसा कहा है। इसी प्रकार "कायम्' भी घोड़े का शरीर न हो कर काठी है। आगे कहा कि जो बुरे स्वप्नों का प्रभाव हमारे ऊपर हमारी गौ आदि पशुओं पर तथा घर पर पड़ता हो, वह श्रेष्ठ स्वप्न से दूर हो जाय। गौ शब्द यहां गौ आदि पशुओं का वाचक है। जो दुष्वप्न्य हमें आते हैं, उन का बुरा प्रभाव हमारे ऊपर तो स्पष्ट ही है किन्तु साथ ही हम अपने घरेलु तथा सामाजिक कर्तव्यों से भी च्युत हो जाते हैं। गौ आदि पशुओं पर दुष्वप्न्य का प्रभाव यही है कि, उन की सेवा तथा लालनपालन ठीक नहीं होता। इस प्रकार दुष्वप्न्यों का प्रभाव बहुत विस्तृत होता है। मनुष्य को चाहिये कि, वह दुष्वप्न्यों का विनाश करे।

दुष्वप्न्य को दूर करने के सम्बन्ध में अगला मन्त्र इस प्रकार है--

> अनास्माकस्तद् देवपीयुः पियारुर्निष्कमिव प्रति मुञ्चताम्।
> नवारत्नीनपमया अस्माकं ततः परि। दुष्वप्न्यं सर्वं
> द्विषते निर्दयामसि। (अ. १६।५७।५

अर्थात् देवों की हिंसा करने वाला, दुःखदायी दुष्वप्न्य अनात्मीय है। वह सुवर्णाभरण की तरह हम से दूर हो जायें। हम से नौ हाथ परे हट जाये हम अपने सम्पूर्ण दुष्वप्न्यों को शत्रु के लिये बाहिर कर दें।

इस मन्त्र में दुष्वप्न्य को निष्क अर्थात सुवर्णाभरण से उपमा दी गई है! इस का भाव यह प्रतीत होता कि. जिस प्रकार सुवर्ण का आभूषण बहुत प्रिय होता है। और मनुष्य इसे या तो बहुत ही लाचार अवस्था में छोड़ता है, या इस प्रकृति के मोह को त्याग कर वैराग्य में पदार्पण करते हुए छोड़ता है। उसी प्रकार कई दुष्वप्न्य भी मनुष्य को ऐसे प्रिय होते हैं कि वह एक क्षण के लिये भी उन्हें छोड़ना नहीं चाहता।

इस प्रकार के दुष्वप्न्यों को छोड़ने में मनुष्य का बहुत बड़ा त्याग है। वेद कहता है कि, ऐसा दुष्वप्न्य चाहे तुम्हारा कितना ही प्रिय क्यों न हो, तो भी वह तुम्हारा आत्मीय नहीं है। वह देवों का हिंसक है, उसे तुम्हें छोड़ना ही चाहिये। आगे जो "नवारत्नीनपमयाः" अर्थात् नौ हाथ परे कर दें, ऐसा कहा है. यह वेद का एक मुहावरा है। वेद इस से मनुष्यों को मुहावरा बनाने की शिक्षा देता है।

दुष्वप्न्य मनस्पाप है!

ऋ. १० सू. १६४ सू. में भी दुष्वप्न्य का वर्णन है। इस सूक्त का देवता "दुष्वप्न्यनाशनम्" है, अर्थात दुष्वप्न्य का किस तरह से विनाश करना चाहिये, यह इस सूक्त में वर्णन किया गया है। इस पर अब हम विचार करते हैं। प्रथम मंत्र इस प्रकार है।

अपेहि मनसस्पतेऽप क्राम परश्चर ।
परो निर्ऋत्या आ चक्ष्व बहुधा जीवतो मनः ।
(ऋ १०।१६४।१)

हे (मनस्पते) मन के मालिक दुष्वप्न्य ? (अपेहि) दूर हो, (अप क्राम) तू दूर चला जा । (परः चर) परे चला जा । तू (जीवतः मनः) प्राणी के मन को (बहुधा) बहुत प्रकारसे (निर्ऋत्यै) आपत्ति, आलस्य, दुःख तथा पापप्रवृत्ति के लिये ही (आचक्ष्व) बार बार कहा करता है, (परः) तू परे हो जा ।

इस मंत्र में दुष्वप्न्य को "मनसस्पते" मन का मालिक बताया गया है । मन तो संपूर्ण शरीर को अपने वश में रखता है । परन्तु यह दुष्वप्न्य मन को भी अपने वश में रखता है । मन के द्वारा शरीर तथा इंद्रियादिकों से जो चाहता है, वह करता है । इसलिये इस दृष्टि से इसे "मनसस्पतिः" अर्थात मन का स्वामी कहा गया है । इस मन्त्र में दुष्वप्न्य को "अपेहि" "अप क्राम" "परश्चर" आदि शब्दों से दूर करने का स्पष्ट विधान किया गया है । इस स्वप्न को क्यों दूर करना चाहिये, इस का कारण मन्त्रार्ध में स्पष्ट कर दिया गया है । वह कारण यह है कि, यह स्वप्न प्राणी के मन को "निर्ऋति" अर्थात् पाप, कष्ट, आपत्ति कलुषिता आलस्य आदि के लिये बार बार प्रेरित करता रहता है । श्रेष्ठ तथा सज्जन आदमी के मन को भी पतित करने के लिये प्रेरणा करने में यह कभी थकता

नहीं । जब तक यह अपने काम में सफल नहीं हो जाता, तब तक यह बार बार मन को "निऋति" के लिये प्रेरित करता रहता है ? इसलिये मन के स्वामी बने हुए दुष्वप्न्य को दूर करने के लिये बार बार मन्त्र में दुष्वप्न्य की भर्त्सना की गई है।

अगले मन्त्र में श्रेष्ठ मनुष्यों के सम्बन्ध में कहा है।

भद्रं वै वरं वृणते भद्रं युञ्जन्ति दक्षिणम्।
भद्रं वैवस्वते चक्षुर्बहुत्रा जीवतो मनः ॥
(ऋ. १०।१६४।२)

अर्थात् श्रेष्ठ मनुष्य (भद्रं वै वरं) कल्याणकारी तथा वरणीय पदार्थ को (वृणते) स्वीकार करते हैं और (दक्षिणम) दक्ष तथा उत्साहयुक्त मन को (भद्रं युञ्जन्ति) कल्याणकारी बातोंमें लगाते हैं। (जीवतः) प्राणी का (मनः) मन (बहुत्र) बहुत जगह जानेवाला होता है, इसलिये वह मन (वैवस्वते) विवस्वान् आदित्य के समान अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर कर (भद्रं चक्षुः) भद्र तथा श्रेष्ठ पदार्थों का ही दर्शानेवाला होता है।

उपर्युक्त मंत्र में दुष्वप्न्य आदि दुर्गुणों को दूर करने का बहुत ही अच्छा उपाय बताया गया है। वह यह कि जो भी पदार्थ हम अपने लिये स्वीकार करें, वह भद्र तथा वरणीय हो। अभद्र बातों का अनुसरण तथा अभद्र पदार्थों का निर्वाचन हम

कभी भी न करें। हमारा जो बलवान् चतुर तथा उत्साही मन है, उस को हम भद्र बातों की ओर ही प्रेरित करते रहें। वह मन यदि योग्यता तथा साहस दिखावे, तो भद्र बातों में ही, अभद्र में नहीं। आगे फिर मन के सम्बन्ध में कहा है कि, प्राणी का मन "बहुत्र" बहुत २ जगहों पर जाने वाला है। और जिस जिस पदार्थ से वह सम्बन्ध करता है, उस उस को वह प्रकाशित करता है।

इस लिये इस मन को चक्षु कहा है, अर्थात् वह आंख है। क्योंकि सब पदार्थों को प्रकाशित करता है। परन्तु किन बातों को प्रकाशित करे, इत्यादि बातों को स्पष्ट करने के लिये यहाँ 'वैवस्वते' यह शब्द दिया है। विवस्वान् से वैवस्वात् बना है। विवस्वान् आदित्य को कहते हैं। इस का अर्थ है 'विवासनक्रियया तमसां तद्वान्, अर्थात् जो अन्धकार को दूर करता है। इस से विवस्वान् सम्बन्धी को वैवस्वत कहेंगे। अर्थात् जिस का काम अन्धकार को दूर करना है। मन अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर करने वाला है इस लिये यहां पर कहा कि, अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर करने के लिये मन भद्र पदार्थों से सम्बन्ध करे, और उन को प्रकाशित करे। अभद्र बातों का दर्शन करने वाला मन न हो। इस लिये इस मन्त्र में दुष्वप्न्य आदिकों को दूर करने का उपाय यह बताया कि, भद्र ही स्वीकार करो, भद्र के लिये ही प्रयत्न करो और सदा भद्र को ही देखने का स्वभाव बनाओ। अर्थात् मन, वचन, कर्म से सदा भद्र ही भद्र करो

अगला मन्त्र इस प्रकार है—

यदाशसा निःशसाभिशसोपारिम जाग्रतो यत्स्वपन्तः ।
अग्निर्विश्वान्यप दुष्कृतान्यजुष्टान्यारे अस्मद्दधातु ॥
(ऋ० १०।१६४।३)

यह मन्त्र कुछ भेद से अथर्व० ६ ४५।२ में भी आता है। उस के सम्बन्ध में हम फिर विचार करेंगे। अब मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है--

(यत्) जो पाप (आशसा) अपनी इच्छा से (जाग्रतः) जागते हुए (यत्स्वपन्तः) और सोते हुए हम (उपारिम) करते हैं और (निःशसा) बिना इच्छा किये भी कर बैठते हैं अथवा (अभिशसा) चहुं ओर प्रशसित होकर कर बैठते हैं, (अजुष्टानि) असेवनीय (विश्वानि दुष्कृतानि) उन सब दुष्कर्मों को (अग्निः) अग्नि (अस्मत् आरे दधातु) हम से दूर रखे।

जागृतावस्था या सुप्तावस्था में हम जो दुष्कर्म करते हैं, उन को दूर करने के लिये अग्नि से प्रार्थना की गई है। अग्नि सम्भवतया यहा संकल्पाग्नि ही समझनी चाहिये। वह हमारे अन्दर शुभ संकल्पाग्नि खूब प्रज्वलित हो रही हो, तो हम दोनों अवस्थाओं में दुष्कर्मों से बचे रह सकते हैं।

आगे मन्त्र में कहा है कि--

यदिन्द्र ब्रह्मणस्पतेऽभिद्रोहं चरामसि प्रचेता न आंगिरसो द्विषतां पात्वंहसः । (अ. १०।१६४।४)

हे (इन्द्र) राजन् और (ब्रह्मणस्पते) ब्राह्मणों के अधिपति (यत्) जो (अभिद्रोहं) हम किसी से द्रोह (चरामसि) करते हैं, (प्रचेताः) प्रकृष्ट चित्तवाला विद्वान् तथा (आंगिरसः) आंगिरस (नः) हमें (अंहसः) पापों से (पात) रक्षा करें।

इस मन्त्र में दुष्वप्न्यादि दुर्गुणों को दूर करने के लिये इन्द्र ब्रह्मणस्पति, प्रचेता तथा अंगिरस देवताओं से प्रार्थना की गई है। ये इन्द्र आदि देवता द्रोह तथा दुष्वप्न्यादि दुर्गुणों को किस प्रकार दूर कर सकते हैं, यह विचारणीय है। इन्द्र, ब्रह्मणस्पति, प्रचेता तथा आंगिरस ये नाम परमात्मा के हैं। उससे दुर्गुणों को दूर करने, श्रेष्ठ गुणों को धारण करने तथा अन्य सभी उत्तम बातों को ग्रहण करने के लिये प्रार्थना की ही जाती है। परन्तु मनुष्य समाज में तथा राष्ट्र में ये पदाधिकारी किस प्रकार दुष्वप्न्यों को दूर कर सकते हैं, यह भी विचारणीय है। इन्द्र अर्थात् राजा राष्ट्र में प्रजा को सुखी बना कर दुष्टों को दण्ड देकर तथा सब तरह से धर्म को उन्नति करा कर पापादि दुर्गुणों से प्रजा की रक्षा कर सकता है।

परन्तु दुष्वप्न्य तथा पापादियों से रक्षा करने का दूसरा तरीका ब्रह्मणस्पति का है। वह शिक्षा देकर समझा-बुझा कर और अन्य ब्राह्मणोचित उपाय से दुष्वप्न्य आदि दुर्गुणों को दूर करने का प्रयत्न करता है। इसी प्रकार प्रचेता और आंगिरस भी अपने अपने तरीकों से मनुष्यों में से पापादि दुर्गुणों को दूर करने का प्रयत्न करते हैं।

आगे कहा कि—

अजैष्माद्यासनाम चाभूमानागसो वयम् । जाग्रत्स्वप्नः संकल्पः पापो यं द्विष्मस्तं स ऋच्छतु यो नो द्वेष्टि तमृच्छतु ॥ (ऋ॰ १०।१६४।५)

(अद्य अजैष्म) आज हमने विजय कर लिया (असनाम च) और जो प्राप्तव्य था, वह प्राप्त कर लिया है और अब (अभूम-अनागसो वयम्) हम निष्पाप हो गये हैं। (जाग्रत स्वप्नः) जाग्रत् स्वप्न में जो (पापः संकल्पः) पापरूप संकल्प करते हैं, वह (य द्विष्मः) जिस से हम द्वेष करते हैं, (तं स ऋच्छतु) उस को वह प्राप्त हो। (यः नः द्वेष्टि तं ऋच्छतु) और जो हम से द्वेष करता है, उस को वह प्राप्त हो।

इस से पूर्व मन्त्रों में बुरे स्वप्नों तथा दुर्गुणों आदि के निवारण का सक्षेप में वर्णन किया गया है। अब इस मन्त्र में यह बताया गया है कि, बुरे स्वप्न तथा पाप जब दूर हो चुके, तब हम विजयी बन गये हैं। क्योंकि अब हम निष्पाप हैं। हमारे अन्दर अब किसी भी प्रकारका पाप नहीं रहा, इसलिये जागते हुए तथा सोते हुए जो भी पापरूपी संकल्प हम करते हैं, वह जिस से हम द्वेष करें अथवा जो हम से द्वेष करे, उसको प्राप्त हों। यहांपर एक बात और ध्यान देनेयोग्य है कि, दुष्वप्न्य को यहाँपर 'पापः संकल्पः' पापरूप (बुरा) संकल्प कहा गया है।

दूसरे 'जाग्रत् स्वप्नः' यह समस्त पद जागृतावस्था के स्वप्न की ओरनिर्देश करता हुआ प्रतीत हो रहा है । और फिर यहां जागृतावस्थाके स्वप्न का स्वरूप संकल्प बताया गया है । इस से यह स्पष्ट है कि, वेद जागृतावस्था के स्वप्न को 'संकल्प' मानता है । यह उपर्युक्त सूक्त कुछ भेद से अथर्ववेद ६ ष्ठ काण्ड, ४५ सूक्त में भी आया है ।

प्रथम मंत्र यह है—

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि ।
परेहि न त्वा कामये वृक्षाँ वनानि संचर गृहेषु
गोषु में मनः ॥ (अथर्व ६।४५।१)

हे (मनस्पाप) मनके पाप (परोपेहि) दूर हट जा, (किमशस्तानि) क्यों अप्रशंसनीय दुर्गुणोंकी (शंससि) प्रशंसा करता है ? (परेहि) दूर चला जा, (न त्वा कामये) मैं तुझे नही चाहता, (वृक्षान् वनानि कामये) वृक्षों तथा जगलों को चाहता हूँ । हे (मे मनः) मेरे मन ! तू (गृहेषु गोषु संचर) घरों में तथा गौओं में विचरण कर ।

अथर्ववेद के इस मन्त्र में बुरे स्वप्नों को "मनस्पाप" मन का पाप कहा है । इसी को ऋग्वेद में "मनसस्पते" मन का पति अर्थात् स्वामी कहा गया है । इस मनस्पाप तथा मनसस्पते में कोई विशेष भेद नहीं है । मनस्पाप अर्थात् बुरा स्वप्न मन का मालिक होता ही है । आगे कहा कि,

"किमशस्तानिशंससि" अर्थात् अप्रशस्तों की क्यों प्रशंसा करता है ? यह मन का स्वाभाविक गुण है । जब मन की पाप करने की इच्छा होती है, तब वह पदार्थ तथा पाप के काले पर्दे को छिपाकर उस के शुभ्र पर्दे को दिखाता है । अथवा बुरी बात को भी माया से अच्छी दिखाकर धोखा देता है और उसे लेना चाहता है । चोरी व व्यभिचार आदि बुराही है, परन्तु जब मन की इन पापों को करने की इच्छा होती है, तब वह कई तरह से इन के करने के हक में युक्तियां ढूंढ लाता है । उस समय मन श्रेष्ठ भावों को मायामयी युक्तियों से हराकर उन्हें दबा देता है, और पाप करने में अव्याहत मार्ग ढूंढ निकालता है । परन्तु मन्त्र कहता है कि, हे मन के पाप ! तू दूर चला जा । अप्रशस्तों की झूठी प्रशसा मत कर ! आगे कहा कि, तू दूर चला जा, मैं तुझे नहीं चाहता । परंतु वृक्षों तथा वनों को चाहता हूँ । विचारणीय यह है कि, यहाँ वृक्षों तथा वनों की कामना से क्या तात्पर्य है ? इस का यह भाव प्रतीत होता है कि, मनने कहीं न कहीं अवश्य उलझना है । वह दुर्गुणों तथा पापों में न उलझकर वृक्ष तथा वनों में उलझे, यहीं विचरे, तथा उनमें परमात्मा की विभूति देखकर उन की प्रशंसा करे, तो वह मनस्पाप से बच सकता है । क्यों कि, वृक्ष तथा वन आध्यात्मिकता को भी जागृत करनेवाले हैं ।

फिर आगे कहा कि, मेरे मन ? तू घरों में तथा गौओं में विचरण कर । यदि मन को कोई काम न होगा, तो वह

नाना भांति के बुरे बुरे स्वप्न लेने लगेगा । इसलिये उसे खाली न बैठने देने के लिये आवश्यक यह है कि, मन को काम में लगाये रखे । सब से श्रेष्ठ तथा उपयुक्त काम यही है कि, घर के कार्यों तथा गौओं में मनुष्य का मन लगा रहे । घर के कार्य भी इतने हो सकते हैं कि, मनुष्य कभी भी खाली न बैठ सके और फिर गौएं रखने वाले मनुष्य को तो खाली समय मिल ही नहीं सकता । गौओं के कहने से प्रत्येक आर्य घर में गोपालन करना अत्यन्त आवश्यक है, यह भी बता दिया । इस लिये बुरे स्वप्नों को दूर करने का एक उपाय यह भी है कि, मनुष्य सदा घर की उन्नति में लगा रहे तथा गौ आदि पशुओं का पालन अवश्य करे ।

देवताओं से दुष्वप्न्य दूर करने की प्रार्थना ।

वेद में अनेकों देवताओं से भी बुरे स्वप्न को दूर करने की प्रार्थना की गई है । अब विचारणीय यह है कि उन देवताओं का स्वप्न के साथ क्या सम्बन्ध है और वे किस प्रकार स्वप्न को दूर करते हैं ?

ऋ. ५।८२।४ में आता है कि—

> अद्या नो देव सवितःप्रजावत् सावीः सौभगम् ।
> परा दुष्वप्न्यं सुव ॥

अर्थात् हे सविता देव ! आज तू हमें अपनी प्रजा की तरह

सौभाग्य प्रदान कर और स्वप्न में आये बुरे विचारों को दूर कर।

इस उपर्युक्त मन्त्र में सविता से बुरे स्वप्नों को दूर करने की बहुत स्पष्ट प्रार्थना मिलती है। अब विचारणीय यह है कि सविता का स्वप्न से क्या सम्बन्ध है ?

सवितादेवता पर विस्तृत विचार तो फिर कभी किया जायेगा संक्षेप में केवल उस के स्वरूप का दिग्दर्शन कराना ही पर्याप्त होगा। सविता देवता राष्ट्र में नियमों का निर्माता और सब को अपने २ कार्य में प्रेरित करने वाला है। वेद में ऐसा वर्णन आता है कि, उस के नियमों को राजा भी नहीं तोड़ सकता। उदाहरणार्थ एक दो मन्त्र हम आप के सामने रखते हैं।

ऋ. २।३८।९ में कहा है कि—

> न यस्येन्द्रो वरुणो न मित्रो व्रतमर्यमा न मिनन्ति रुद्रः।
> नारातयस्तमिदं स्वस्ति हुवे देवं सवितारं नमोभिः॥

अर्थात जिस के व्रत अर्थात् नियमों को इन्द्र वरुण, मित्र अर्यमा आदि जितने भी देव हैं, इन में से कोई भी नहीं तोड़ सकता और न ही शत्रु भी उस के नियमों को तोड़ सकते हैं, ऐसे उस सविता को नमस्कार द्वारा आह्वान करते हैं। और शत० प० १।२।२।१७ में सविता के सम्बन्ध में कहा है कि 'सविता वै देवानां प्रसविता' अर्थात् सविता देवों को कार्यों में

प्रेरित करता है। इत्यादि और भी मन्त्र हैं, जिन से यह स्पष्ट पता चलता है कि सविता नियमनिर्माता है। सब राजा व प्रजा नियमों का पालन करते हैं कि नहीं यह देखता है। और सविता शब्द का धात्वर्थ भी इस बात को स्पष्ट बता रहा है कि वह सब को कार्यों में प्रेरित करता है। सविता का स्वप्न के साथ क्या संबन्ध है. इस का स्पष्टी करण सविता के उपर्युक्त वर्णन से इस प्रकार समझना चाहिये कि जो मनुष्य आलसी है, सदा स्वप्न लिया करता है, उस को सदा कार्य में लगाये रखना सविता का कार्य है।

जब राष्ट्र में प्रजा की दिनचर्या इस प्रकार होगी कि वे राजकीय नियमों के आधीन कार्य कर रहे होंगे, ता स्वप्न लेने का कोई समय ही नहीं मिलेगा। क्योंकि बुरे स्वप्न लेना निठल्ले तथा अकर्मण्य आदमियों का कार्य है। जा सदा कार्य में जुटा रहता है, दिनचर्या भी सारे दिन की बनी होती है, उस व्यक्ति को कभी भी बुरे स्वप्न नहीं आ सकते। और फिर बुरे स्वप्न आते कब हैं? जब कि दौर्भाग्य तथा गरीबी आदि विपत्तियां हों। समृद्धि तथा सौभाग्य में कभी बुरे स्वप्न नहीं आ सकते। इस लिये मन्त्र में सविता से प्रार्थना की गई कि, तू हमारे ऊपर सौभाग्य की वर्षा कर, जिस से कि हम बुरे स्वप्नों से बच जायें। इस लिये राष्ट्र में सविता का एक यह भी कार्य है कि जो व्यक्ति बुरे स्वप्न लेते हैं, सदा अकर्मण्य रहते हैं, उन को कार्य में प्रेरित कर उन से बुरे स्वप्नों को दूर करावे। और भगवान् से तो यह प्रार्थना है ही।

ऊपर हमने सविता से स्वप्न को दूर करने की प्रार्थना पर विचार किया, पर कुछ स्थानों पर सूर्य से भी स्वप्न को दूर करने की प्रार्थना की गई है। वैसे तो सविता सूर्य का ही एक रूप है। परन्तु हमने यहां पर सविता को सूर्य से पृथक् ही माना है। सविता और सूर्य से क्या भिन्नता व अभिन्नता है, यह तो इन दोनों पर स्वतन्त्ररूपेण लिखते हुए दर्शाया जायेगा। किन्तु यहां पर हमने सूर्य को आधिभौतिक रूप में स्वीकार कर उससे किस प्रकार से स्वप्न दूर किये जा सकते हैं, यह दर्शाने का प्रयत्न किया है। सूर्य से स्वप्न को दूर करने के सम्बन्ध में दो एक मन्त्र हम यहां दिये देते हैं।

अथर्व० १३।१।५८ में आता है कि—

यो अद्य देव सूर्य त्वां च मां चान्तरायति ।
दुष्वप्न्यं तस्मिँछमलं दुरितानि च मृज्महे ॥

हे दिव्य गुणयुक्त सूर्य ! जो कोई दुष्वप्न्यादि शत्रु आज तेरे और मेरे बीच में आवे, उसको मलिन व्यवहारों तथा दुर्गतियों को हम शुद्ध करें।

इस उपर्युक्त मन्त्र में सूर्य के सम्बन्ध में वर्णन करते हुए, यह कहा गया है कि, वह "दुष्वप्न्य" अर्थात् बुरे

स्वप्नों को भी दूर करता है। अब विचारणीय यह है कि, वह सूर्य दुष्वप्नों को कैसे दूर करता है ? इस बात को हम कई दृष्टियों से स्पष्ट कर सकते हैं। एक तो यह कि सूर्य प्राण-धारक तथा जीवनदायक है। इस भूमण्डल पर सब ओष-धियां तथा वनस्पतियां सूर्य से ही रस धारण करती हैं, जो कि हमारी समृद्धि तथा स्वस्थ शरीर का कारण बनती हैं। समृद्धि तथा स्वस्थ शरीर के होने पर स्वप्नों का न होना स्पष्ट है।

एक ध्वनि जो कि इस मंत्र से निकलती है, वह यह है कि मन्त्र में जो यह कहा है कि—

"सूर्य त्वां च मां चान्तरायति"

अर्थात् हे सूर्य ! तेरे और मेरे बीच में जो आता है, इस से यह स्पष्ट है कि, सूर्य का सीधा सम्पर्क तथा सेवन भी अवश्य करना चाहिए। इस से दिमाग में तथा शरीर में शक्ति बढ़ती है, जिस से स्वप्न भी दूर होते हैं। क्योंकि सूर्य जीवनदायक तथा प्राणधारक है। इसलिये वनस्पति, ओषधी तथा अन्य वस्तुएँ जो भी उस के सम्पर्क में आती हैं, वे पुष्ट होती हैं। इसी प्रकार सूर्यसम्पर्क से मनुष्य की परिपुष्टावस्था होने पर स्वप्न का अभाव सम्भव है। और यह बात अत्यन्त सिद्ध है कि, जो किसान सूर्य की धूप में कार्य करते हैं, उनके शरीर बहुत पुष्ट होते हैं। और वे सूर्य की

धूप में इतना परिश्रम करते हैं कि, उन्हें रात्रि में बहुत गाढ़ निद्रा आती है। इस से स्वप्नों का कम होना स्वाभाविक है।

इसलिए जिस मनुष्य को स्वप्न बहुत आते हैं, उसे चाहिए कि, वह उनको दूर करने के लिए सूर्य की धूप में खूब परिश्रम करे। सूर्य की धूप में परिश्रम करने का परिणाम वह होगा कि, थकावट के कारण उस मनुष्य को इतनी गाढ निद्रा आयेगी कि, स्वप्न उस के पास फटक ही नहीं सकते। और फिर मन्त्र में जो यह कहा गया है कि, मलिन व्यवहार दुरित अर्थात् पापों को हम सूर्य की उपस्थिति में शुद्ध करते हैं। यह एक स्वाभाविक वर्णन है। सूर्य की उपस्थिति का भाव यह है कि ज्ञान व प्रकाश। इन ज्ञान व प्रकाश के होने पर पाप आदि किया जा सकना कठिन है। क्योंकि अन्धकार तथा ओट में ही सब पाप किये जाते हैं। और मेरे बीच में कोई न आवे, इसका भाव यह है कि, हम पर अन्धकार व अज्ञान कभी भी प्रभुत्व न जमावें। अन्धकार न होने पर मलिन व्यवहार तथा पाप न होंगे, इनके न होने पर स्वप्न भी कभी न आवेंगे। यदि हम और सूक्ष्म दृष्टि से इस पर विचार करें, तो हमें और भी एक भाव प्रतीत होता है और वह यह कि, स्वप्न तथा दुःस्वप्न्य समाज

के नियम, बन्धन तथा उस की अपनी सतह (Standard) पर भी निर्भर होते हैं। यदि समाज के नियमादि बहुत निकृष्ट हों, पतित हों, तो उन मनुष्यों को उसी प्रकार के स्वप्न आयेंगे। एक समाज में असत्य बोलना, ठगना, धोखा आदि देना और गरीबों का शोषण करना प्रचलित है, तो उस समय मनुष्यों को प्रतिहिंसा में दु:ष्वप्न्य इत्यादि का आना स्वाभाविक है। इसलिये सूर्य को ज्ञान का प्रतिनिधि मानकर यह शिक्षा दी गई है कि, हम मलिन व्यवहार दुरित आदि को शुद्ध करते हैं। जब शुद्धि द्वारा समाज की स्थिति, सतह, बहुत ऊँची हो जायगी, गरीबों का शोषण न होगा, तो प्रतिहिंसा की भावना भी न रहेगी। सो स्वभावत: दु:ष्वप्न्य भी कम आवेंगे। वहां समाज को उद्देश्य करके वर्णन किया गया है। इसलिए "मृज्महे" बहुवचन में प्रयोग हुआ है।

इसी प्रकार ऋ० १०।३७।४ में भी सूर्य से स्वप्न को दूर करने की प्रार्थना की गई है।

मन्त्र इस प्रकार है—

येन सूर्य ज्योतिषा बाधसे तमो जगच्च विश्वमुदियर्षि भानुना।
तेनास्मद् विश्वामनिरामनाहुतिमपामीवामप दुष्वप्न्यं सुव ॥

हे सूर्य ! तू जिस ज्योति से अन्धकार को दूर करता है, जिस किरण से तू संपूर्ण जगत् को जगाता है, उस ज्योति से तू हम से समस्त अन्नादि पदार्थों के अभाव, रोग तथा दु:ष्वप्न्य आदियों को दूर कर।

इस उपर्युक्त मन्त्र में सूर्य से प्रार्थना की गई है कि, तू अपनी ज्योति से अन्धकार को दूर करता है और विश्व जगत् को जगाता है। इसलिए हे सूर्य ! तू अपनी लोकोपकारक किरणों के द्वारा ओषधि तथा वनस्पति आदि पदार्थों में उत्तम रस पैदा कर। और हमारे में से रोगों को दूर कर, जिस से कि बुरे स्वप्नों का प्रभाव हम पर न हो सके। बुरे स्वप्न, गरीबी तथा व्याधि आदि के प्रभुत्व में ही अधिक आते हैं। इसलिये व्याधि तथा अभाव के दूर करने में सर्वोत्कृष्ट सहायक सूर्य ही होता है।

यजु० २०।१६ में भी सूर्य से स्वप्न आदि दोषों को दूर करने की प्रार्थना मिलती है।

मन्त्र इस प्रकार है—

यदि जाग्रद् यदि स्वप्न एनांसि चकृमा वयम्।
सूर्यो मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वंहसः॥

अर्थात् यदि जागते हुए या सोते हुए अथवा स्वप्न में हमने कोई पाप किया हो, सूर्य उन सब हिंसा तथा पापों से मेरी रक्षा करे।

इस मंत्र में कहा गया है कि जागते हुए व सोते हुए हम किसी भी प्रकार का पाप न कर सकें। इसके लिये सूर्य से प्रार्थना की गई है। जागते हुए हम पाप न कर सकें, सूर्य से इस प्रकार की प्रार्थना करना अत्यन्त स्वाभाविक है। परन्तु सोते हुए भी हम पाप न कर सकें, ऐसी सूर्य से प्रार्थना का वर्णन इस बात को सिद्ध करता है कि रात्रि में भी सूर्य का प्रभाव है। रात्रि के समय होने वाली सूर्य की शक्ति से हम किस किस प्रकार लाभ उठा सकते हैं, इत्यादि बातें विचारणीय हैं !!

वरुण—

कई मन्त्रों में वरुण से प्रार्थना की गई है कि, वह हमारे बुरे स्वप्नों को दूर करे।

मन्त्र इस प्रकार है—

प्रास्मत् पाशान् वरुण मुञ्च सर्वान्य उत्तमा अधमा वारुणा ये।

दुष्वप्न्यं दुरितं निष्वास्मदथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम् ॥
(अ० ७।८३।४)

अर्थात हे वरुण ! हमारे जितने भी उत्तम, अधम वरुण-सम्बन्धी पाश हैं, उन को तू हम से दूर कर। दुष्वप्न्य तथा दुराचरणादि पापों को हम से दूर कर। क्योंकि अब हम सुकृत के लोक में जाते हैं।

इस मन्त्र में वरुण से दुष्वप्न्यों को दूर करने की प्रार्थना की गई है। वेद में वरुण का स्वरूप दुष्टों व पापियों को पाश में बांधने वाला बताया गया है। इसलिये राष्ट्र में जो मनुष्य सदा दुष्वप्न्य में पड़े रहते हैं, उन को वरुण पकड़ लेता है और उन में से दुष्वप्न्यादि दुर्गुणों को दूर करवाता है। मनुष्य में से दुष्वप्न्यादि दुर्गुणों को दूर करने का उपाय मन्त्र के अगले पाद में बताया गया है। वह इस प्रकार है—

'अथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम्।'

अर्थात् वरुण दुष्वप्न्य लेने वाले मनुष्यों को सुकर्मा मनुष्यों की समाज में पहुंचाता है। इस प्रकार सत्संग से वह

अकर्मण्य मनुष्य भी कर्मठ व श्रेष्ठ कर्म करने वाला हो जाता है और दुष्वप्न्यों से बच जाता है।

एक और मन्त्र में वरुण से स्वप्न को दूर करने की प्रार्थना की गई है।

वह इस प्रकार है—

यो मे राजन् युज्यो वा सखा वा स्वप्ने भयं
भीरवे मह्यमाह । स्तेनो वा यो दिप्सति
नो वृको वा त्वं तस्माद्वरुण पाह्यस्मान् ॥
(ऋ० २।२८।१०)

अर्थात् हे वरुण राजन्! जो मेरा सहयोगी अथवा सखा स्वप्न में मुझ भीरु को भयभीत करता है, अथवा जो चोर व डाकू हम को पीड़ित करता है। हे वरुण! उस सखा व चोर, डाकू आदि से हमारी रक्षा कर।

इस उपर्युक्त मन्त्र में विचारणीय यह है कि चोर व डाकू के स्वप्नों से अथवा स्वप्न में भयभीत करने वाले साथी से वरुण किस प्रकार रक्षा कर सकता है? चोर व डाकू आदि के स्वप्न मनुष्यों को उसी अवस्था में आते हैं, जब

कि राष्ट्र में इन का बाहुल्य हो, राष्ट्र की पकड़ में वे न आते हों। जिस राष्ट्र में चोर, डाकू आदि न होंगे, वहां मनुष्यों को इन के स्वप्न भी नहीं आयेंगे। प्रजा को इन के स्वप्न न आवें, इस के लिये वरुण का यह कर्तव्य है कि, राष्ट्र में जितने भी चोर डाकू हों, उनको पकड़ ले। और ऐसा नियन्त्रण रक्खे कि, भविष्य में भी कोई चोर व डाकू आदि बनने का साहस न कर सके।

दूसरे सहयोगी व सखा का स्वप्न में डराने का भाव यह है कि वह व्यक्ति जो अपने सखा का स्वप्न में डराता है, अर्थात् स्वप्न में अपने जिस सखा से डर लगता है, वह सच्चा सखा नहीं है। इसी प्रकार व्यापारादि में जिस अपने सहयोगी से डर लगता है, वह भी सच्चा सहयोगी नहीं है। वे दोनों छली हैं कपटी हैं। ऐसे ऊपर से बने हुए कपटी सखा व सहयोगी को भी अपने पाश में बांधना वरुण का काम है।

जलः—

कई मन्त्रों में जलों के द्वारा बुरे स्वप्नों को दूर करने का विधान मिलता है। उदाहरणार्थ दो एक मन्त्रों को हम यहा दिये देते हैं।

> अरिप्रा आपो अप रिप्रमस्मत्। प्रास्मदेनो दुरितं सुप्रतीकाः
> प्र दुष्वप्न्यं प्र मलं वहन्तु ॥ (अ. १०।५।२४)

अर्थात निर्दोष जल हमारे में से पापों को दूर करें। और

उत्तम गति वाले श्रेष्ठ जल हमारे में से दुष्टाचरणादि अनेकविध पापों, बुरे स्वप्नों, तथा सब प्रकार के मलों को दूर करें।

इस मन्त्र में जलों द्वारा पाप व मल आदि के अतिरिक्त बुरे स्वप्नों के भी दूर करने का वर्णन मिलता है। जल बुरे स्वप्नों को किस प्रकार दूर कर सकते हैं, यह एक विचारणीय विषय है। जल शान्ति का प्रतिनिधि माना गया है, अर्थात् जल मनुष्य को शान्ति देने वाला है। शान्त तथा स्वस्थचित्तता का होना ही स्वप्न के न होने का श्रेष्ठ उपाय है। दूसरे जल को वेदों में श्रेष्ठ औषधि माना गया है। वेदों में तो जलचिकित्सा का वर्णन आता ही है, परन्तु आजकल भी जल चिकित्सा कर के एक पृथक् चिकित्सा-प्रणाली प्रचलित हो चुकी है। इस के द्वारा नानाविध रोग दूर किये जाते हैं। दिमाग की खराबी, कब्जी, तथा अन्य विषमताओं के कारण जो स्वप्न आते हों उन की एक चिकित्सा जल भी है। वेद में तो जलचिकित्सा द्वारा बुरे स्वप्नों को दूर करने का विधान मिलता ही है। इसी प्रकार जल से बुरे स्वप्नों को दूर करने के सम्बन्ध में एक और भी मन्त्र आता है।

वह इस प्रकार है—

प्रास्मदेनो वहन्तु प्र दुष्वप्न्यं वहन्तु। (अ॰ १६।१।११)

अर्थात् जल हमारे में से हिंसा आदि पापों और बुरे स्वप्नों को दूर करें।

इस प्रकार जल-चिकित्सा कर के दुष्वप्न्यों को दूर करना चाहिये।

अपामार्ग-

यजु० ३५।११ में आपमार्ग द्वारा दुष्वप्न्य को दूर करने का वर्णन मिलता है।

मन्त्र इस प्रकार है—

अपाघमप किल्विषमप कृत्यामपो रपः।
अपामार्ग त्व मस्मदप दुःष्वप्न्य सुव ॥

अर्थात् हे अपामार्ग! तू हमारे में से पाप को दूर कर। मन की मलिनता तथा दुष्ट क्रिया को दूर कर। और इन्द्रियों की चंचलता तथा दुष्वप्न्य को दूर कर।

अगला मन्त्र इस प्रकार है--

दौष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं········अस्मन्नाशयामसि।

(अ. ४।१७।५)

अर्थात् दुष्वप्न्यों तथा जीवन के कष्ट इत्यादि दोषों को इस अपामार्ग द्वारा हम नष्ट करते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त दोनों मन्त्रों में अपामार्ग द्वारा दुष्वप्न्य

को दूर करने का विधान मिलता है। बुरे स्वप्नों के प्रभाव से शरीर में कई ऐसी बिमारियां पैदा हो जाती हैं, जिन को अपामार्गद्वारा दूर किया जा सकता है। इसी प्रकार नाना कष्टों से भी शरीर पर कोई रोग आक्रमण कर सकता है। उस को भी अपामार्ग द्वारा दूर करने का विधान है। अथवा यह भी कह सकते हैं कि, अपामार्ग का सीधा सम्बन्ध दुष्वप्न्यादि से न हो। परन्तु तो भी अपामार्गद्वारा शरीर व इन्द्रियादिकों की शुद्धि का वेद में बहुत वर्णन है। शरीर व इन्द्रियादिकों की शुद्धि द्वारा अपामार्ग दुष्वप्न्यों के दूर करने में सहायक हो सकती है। ब्रह्म वैद्य परीक्षणों द्वारा इस के गुणों का निरीक्षण करें।

अथर्वे० ७।१०९।१ में बुरे स्वप्न को दूर करने में ब्रह्म को श्रेष्ठ सहायक बताया गया है।

मन्त्र इस प्रकार है--

पर्यावर्ते दुष्वप्न्यात् पापात् स्वप्न्यादभूत्याः।
ब्रह्माहमन्तरं कृण्वे परा स्वप्नमुखाः शुचः।

अर्थात् बुरे स्वप्न से उत्पन्न पाप से और स्वप्न के कारण उत्पन्न हुई अभूति से मैं अलग होता हूँ। अपने और स्वप्न के बीच में ब्रह्म को कर के स्वप्न से होने वाले शोकों को दूर करता हूँ।

इस उपर्युक्त मन्त्र में बुरे स्वप्न, तदुत्पन्न पाप व अभूति आदि

को रोकने का सब से श्रेष्ठ उपाय यह बताया है कि, अपने तथा स्वप्न के बीच में ब्रह्म को कर लेवें, तो स्वप्नों का प्रभाव जाता रहता है। ब्रह्म स्वप्नादि सभी दोषों को रोकने में ढाल का काम करता है। जो मनुष्य जितना ब्रह्म में लीन रहता है, उसे उतने ही कम दुष्वप्न्य आते हैं।

इस लिये दुष्वप्न्यादियों को दूर करने के लिये मनुष्य को ब्रह्म में विचरना चाहिये।

कामदेवता--

अथर्व. ६।२।२ में कामदेवता से प्रार्थना की है कि, मैं दुष्वप्न्य आदियों को परित्याग कर सकूं।

मन्त्र इस प्रकार है--

यन्मे मनसो न प्रियम् न चक्षुषो यन्मे बभस्ति नाभिनन्दति।
तद् दुष्वप्न्यं प्रतिमुञ्चामि सपत्ने कामं स्तुत्वोदहं भिदेयम्॥

अर्थात् (यत्) जो पदार्थ (मे) मेरे (मनसः) मन का (न प्रियं) प्यारा नहीं है और (न चक्षुषः) न आंखों का और (यत्) जो (मे) मुझे (बभस्ति) झिड़कता है, अर्थात् हानि पहुंचाता है, (न अभिनन्दति) और आनन्द नहीं देता, (तत्) उस (दुष्वप्न्यम्) बुरे स्वप्न तथा उस से उत्पन्न बुराइयों को (सपत्ने) रोग तथा पापादि जो स्वप्न हैं. उन के लिये (प्रतिमु-

ञ्चामि) परित्याग करता हूँ। (कामम्) कामरूप परमात्मा की (स्तुत्वा) स्तुति कर के (अहं उद् भिदेयम्) मैं ऊपर पहुंच जाऊं।

यह मन्त्र अथर्व वेद के ९ वें कांड के द्वितीय सूक्त का मन्त्र है। इस सूक्त का काम देवता है। सब की कामना को पूर्ण करने वाले कमनीय परब्रह्म परमात्मा को कामरूप में याद किया गया है। यहां यह दर्शाया गया है कि, इस लोक में परमात्मा को छोड़ कर और कौनसी चीज कामना के योग्य है? अन्य कोई भी पदार्थ कमनीय अर्थात् वाञ्छनीय नहीं। वही परमात्मा वाञ्छनीय है। इस लिये कामों के भी काम उस परमात्मा को याद करके मनुष्य कह रहा है कि, हे कामस्वरूप परमात्मन्! जो मेरे मन और आंखों के लिये प्रिय अर्थात् हितकर न हो, उस दुष्वप्न्य को मैं अपने से दूर करता हूँ। यहां एक शङ्का पैदा हो सकती है कि, मन व आंखें तो कई ऐसी बातों की भी चाहना करती हैं, जो कि ऊपर से तो प्रिय मालूम देती है, परन्तु असल में वह प्रिय नहीं होती और धार्मिक दृष्टि से तो वह बिल्कुल त्याज्य होती है। इस लिये चक्षु व मन के लिये प्रिय का तात्पर्य यह है कि, जो वास्तव में प्रिय अर्थात् हितकर हो। इसी बात को दृष्टि में रख कर आगे कहा है कि, "यन्मे बभस्ति नाभिनन्दति" अर्थात् जो मेरा तिरस्कार, भर्त्सन आदि करता है अर्थात् जो मुझे हानि पहुंचाता है, और मेरा अभिनन्दन नहीं करता। ऊपर से प्रिय लगने वाले जितने भी भोग या विषयविलास हैं, वे सब परिणाम में हानि

पहुंचाने वाले होते हैं। अतः वे प्रिय अर्थात् हितकर नहीं हो सकते।

एक बात का और ध्यान रखना चाहिये, वह यह कि मनुष्य प्रकृति तथा विषयां का उपभोग अवश्य करेगा और उस की कामनाए अर्थात् इच्छायें भी होंगीं। इन का परित्याग वह कभी भी नहीं कर सकता। जैसा कि गीता में कहा है कि, "न चेहास्त्यकामता" अर्थात् इस संसार में कोई भी बिल्कुल काम रहित नहीं हो सकता। इस लिये काम जब अवश्य रहना है, तो किस सीमा तक हो. और वह किस प्रकार का हो, यह निर्णय करना चाहिये। क्योंकि यहां परमात्मा को कामरूप में याद किया गया है।

इस लिये यहां काम भी सात्विक-बहुल होना चाहिये। प्रकृति तथा विषयादिकों का उपभोग उतना ही होना चाहिये जिस से कि कामरूप परमात्मा की अभिलाषा बनी रहे। परमात्मा की कामना करने वाले व्यक्ति को दुष्वप्न्य नहीं सता सकते। इस लिये इस मन्त्र में यह दर्शाया है कि, स्वप्नों तथा उन के परिणामों से बचने के लिये प्रकृति तथा विषयों का कितना उपभोग करना चाहिये। यह परमात्मा के विशुद्ध कामरूप को जान कर ही निश्चय कर सकते हैं।

अगला मन्त्र इस प्रकार है—

दुष्वप्न्यं काम दुरितं च कामाप्रजस्तामस्वगतामर्वितम् ।
उग्र ईशानः प्रतिमुञ्च तस्मिन् यो अस्मभ्यमंहूरणा चिकित्सात् ॥

(अ० ६।२।३)

हे (काम) कामना योग्य परमात्मन्! (दुष्वप्न्यं) दुष्ट स्वप्न तथा उन से होने वाले पापादिकों को (काम) और हे कामना योग्य प्रभो! (दुरितं च) दुरित अर्थात पाप आदिओं को (अप्रजस्ताम्) प्रजा के अभाव वा (अस्वगताम्) निर्धनता तथा (अवर्तिम्) अनिष्ट को हे (उग्रः) उग्ररूप (ईशानः) सबके ईश परमात्मन्! सब वे आपत्तियां (तस्मिन् प्रतिमुञ्च) उस के ऊपर छोड़, (यः) जो (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (अंहूरणा चिकित्सात्) पाप कर्मों को चाहे।

इस मन्त्र में बुरे स्वप्नों तथा उन से उत्पन्न बुराइयों के विनाश के लिये परमात्मा से प्रार्थना की गई है। आगे दुरित, प्रजा अर्थात सन्तान आदि के अभाव, निर्धनता आदि को भी दूर करने के लिये परमात्मा से प्रार्थना की गई है। सन्तान आदि का अभाव, निर्धनता आदि भी दुष्वप्न्यों के मूल कारण हैं। इनके होने पर दुष्वप्न्य आदि पैदा होते हैं। परमात्मा से प्राथंना है कि, हे सब के स्वामिन्! तू! दुष्वप्न्यों तथा उन के मूल कारणों को विनष्ट कर।

इस मन्त्र में परमात्मा को "उग्रः" तथा "ईशानः" इन शब्दों से याद किया गया है। इन शब्दों से परमात्मा को यहां याद

करने का भी कोई विशेष प्रयोजन है। राष्ट्र में सन्तानाभाव, निर्धनता, जीविका आदि का न होना उसी अवस्था में होता है, जब कि, राष्ट्र में परमात्मा के नियमों का पालन न किया जाता हो। सन्त महात्माओं की अवहेलना तथा गरीबों का शोषण होता हो। उस अवस्था में परमात्मा के उग्ररूप का ही सब स्मरण करते हैं। क्योंकि वह परमात्मा अपने उग्र रूप से राष्ट्र की प्रजाओं को सुखी न रखने वाले तथा गरीबों का शोषण करने वाले मनुष्यों का विनाश किया करता है। और दूसरे उसके 'ईशान' नाम से यह भाव प्रकट होता है कि, वह परमात्मा सब का स्वामी है। कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं, जिस का वह परमात्मा स्वामी न हो।

यही स्वामित्व का भाव—'ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां-जगत्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।' इस मन्त्र में यह प्रकट किया गया है, कि इस सम्पूर्ण जगती में जितने भी चराचर वस्तु हैं, उन सबका वह परमात्मा स्वामी है। इसलिये त्याग पूर्वक उपभोग करो, लालच मत करो। क्योंकि यह सब धन उस परम पिता परमात्मा का ही है। इसलिये जो व्यक्ति धनादि ऐश्वर्य पर अपनापन समझता है, स्वामित्व समझता है, तथा गरीबों का शोषण करता है, उसको ठीक रास्ते पर लगाने के लिये परमात्मा को उग्र तथा ईशान रूप में याद किया गया है। और बुरे स्वप्नों तथा उनके मूल कारण पापादियों से बचने के लिये भी परमात्मा के उग्र रूप तथा सर्वस्वामित्व के स्वरूप को याद रखना सर्वश्रेष्ठ उपाय है।

ब्रह्मगवी

अथर्व० काण्ड १२ सू. ५।४ ब्रह्मगवी सूक्त है। अर्थात् इस में ब्राह्मण की गौ का वर्णन किया गया है। इस सूक्त में ब्रह्मगवी के स्वरूप के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा गया है। संक्षेप में उसके स्वरूप के सम्बन्ध में बता कर, फिर स्वप्न से सम्बन्ध रखने वाला मन्त्र भी दर्शाते हैं। ब्रह्मगवी के स्वरूप का निदर्शक मन्त्र इस प्रकार है—

'श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वित्तर्ते श्रिता।'

(अथर्व० १२।५।१)

अर्थात् वह वेदवाणी (श्रमेण) बड़े परिश्रम के साथ तथा (तपसा) बड़ी तपश्चर्या के पश्चात् (सृष्टा) उत्पन्न की गई है। (ब्रह्मणा) उस परब्रह्म परमात्मा से (वित्ता) प्राप्त की है और (ऋते श्रिता) सत्य नियमों अर्थात् ज्ञान में ठहरी हुई है। आगे कहा है—

सत्येनावृता श्रिया प्रावृता यशसा परीवृता।

(अ० १२।५।२)

अर्थात् (सत्येन आवृता) सत्य से ढकी (श्रिया प्रावृता) श्री शोभा तथा कांति से घिरी हुई (यशसा परीवृता) कीर्ति के द्वारा चारों ओर से व्याप्त हुई हुई है।

स्वधया परिहिता श्रद्धया पर्यूढा दीक्षया गुप्ता

यज्ञे प्रतिष्ठिता लोको निधनम् ।

(अ० १२।५।३)

(स्वधया) स्वधा अर्थात् स्वयं त्रिकालों में रहने की शक्ति से (परिहिता) सुरक्षित है, (श्रद्धया) श्रद्धा के द्वारा (पर्यूढा) ब्राह्मणों ने वहन की हुई है, (दीक्षया) दीक्षा के द्वारा (गुप्ता) रक्षित होती है (यज्ञे) यज्ञों में (प्रतिष्ठिता) प्रतिष्ठित है, (लोकः) यह संसार (निधनम) उस का स्थिति स्थान है ।

आगे कहा है कि —

ब्रह्म पदवायं ब्राह्मणोऽधिपतिः । (अ० १।५।४)

अर्थात् (ब्रह्म) परमात्मा ही (पदवायं) उस वेदवाणी के पदों को दर्शाने वाला अथवा प्राप्ति स्थान हैं और (ब्राह्मणोऽधिपतिः) ब्राह्मण को उस का अधिपति स्वामी बनाया गया है ।

इस प्रकार उपर्युक्त मन्त्रों में ब्रह्मगवी अर्थात् वेदवाणी का संक्षेप में वर्णन किया गया है ।

इस ब्रह्मगवी अर्थात् वेदवाणी के सम्बन्ध में आगे कहा गया है कि—

तामाददानस्य ब्रह्मगवीं जिनतो ब्राह्मणं क्षत्रियस्य

अपक्रामति सूनृता वीर्यं पुण्या लक्ष्मीः ।

(अथर्व. १२।५।५,६)

अर्थात् (तां ब्रह्मगवीं) उस ब्रह्मगवी अर्थात् वेदवाणी को (आददानस्य) छीनने वाले तथा (ब्राह्मणं जिनतः) ब्राह्मण को सताने वाले (क्षत्रियस्य) क्षत्रिय की (सूनृता) वाणी, (वीर्यं) वीरता तथा (पुण्या लक्ष्मीः) पुण्य वा पवित्र लक्ष्मी (अपक्रामति) उसे छोड़कर भाग जाती है ।

उपर्युक्त मन्त्रों में दर्शायी हुई ब्रह्मगवी अर्थात् वेदवाणी को और ब्राह्मण को जो सताता है, वह क्षत्रिय विनष्ट हो जाता है । इसलिये क्षत्रिय का यह कर्तव्य है कि, वह ब्रह्मगवी तथा ब्राह्मण की रक्षा करे । यदि क्षत्रिय अर्थात् राजा आदि इस वेदवाणी की रक्षा नहीं करता, तो उस के लिये आगे यह भी कहा है —

अघं पच्यमाना दुष्वप्न्यं पक्वा । (अ० १२।५।३२)

अर्थात् वह ब्रह्मगवी (पच्यमाना) पचाई जाती हुई (अघ) पाप को पैदा करती है और (पक्वा) पककर (दुष्वप्न्यं) बुरे बुरे स्वप्नों को तथा उनकी बुराइयों को पैदा करती है । इस का तात्पर्य यह हुआ कि जो, वेदवाणी को राष्ट्र में प्रचार के लिये रोकता है, उसकी आज्ञाओं के अनुसार न अपना जीवन

व्यतीत करता है और न दूसरों को बिताने देता है। वेद कहता है कि, उसको पाप लगता है और जब वह वेदवाणी उसके प्रयत्नों के कारण रुक जाती है. तब वेद की शिक्षाओं के न देने से वेद की आज्ञाओं के अनुसार जीवन न व्यतीत करने से मनुष्यों के अन्दर पाप, अविद्या तथा दुष्वप्न्यादिओं का प्रादुर्भाव होता है। इसलिये मन्त्र में कहा कि, जो वेदवाणी को पचा जाता है, अर्थात् उसकी शिक्षा के अनुसार अपना जीवन नहीं बिताता, उसे पहले एक तो पाप लगता है, और दूसरे वह कुकर्मों तथा दुष्वप्न्यादिओं में प्रवृत होता है।

सोते हुए पाप करना :

यदि जाग्रद् यदि स्वपन्नेन एनस्योऽकरम्।
भूतं मा तस्माद् भव्यं च द्रुपदादिव मुञ्चताम् ॥

(अ० ६।११५।२)

(यदि जाग्रद्) यदि जागते हुए (यदि स्वपन्) अथवा सोते हुए (एनस्यः) मुझ पापी ने (एनःअकरम) पाप किया हो (तस्माद्) उस पाप से (मा) मुझे (भूतं भव्यं च) भूत और भविष्य (द्रुपदादिव मुंचताम) लकड़ी के बने खूंटे आदि से जिस प्रकार बैल तथा गौ आदि को छुड़ा देते हैं, उसी प्रकार छुड़ा देवें।

प्रायः मनुष्य यह समझते हैं कि, जागते हुए ही पाप आदि किये जा सकते हैं, सोते हुए नहीं। परन्तु वेद मन्त्र कहता है, कि जागते हुए ही नहीं अपितु सोते हुए भी हम पाप करते हैं। सोते हुए किस प्रकार के पाप होते हैं, यह विचारणीय विषय है। सम्भवतः सोते हुए पापों से तात्पर्य दुष्वप्न्यों से हो। शरीर तथा इन्द्रियां आदि सोते हुए कार्य नहीं कर रही होतीं, केवल मन ही सोते हुए व्यापार करता है। इस लिये मन से पापादियों का होना सम्भव है। सोते हुए पाप इत्यादि दुष्वप्न्य अर्थात् बुरे स्वप्नों के ही रूप में हो सकते हैं। बुरे स्वप्नों का भी लेना मन पर बहुत असर करता है। कोई मनुष्य शरीर से पाप न भी करता हो परन्तु यदि वह मन से प्रतिरात्रि बुरे स्वप्न देखने लगे, तो दिन में भी जागते हुए वह पाप करने लगेगा। क्योंकि मन ही सब कार्यों को कराता है। रात्रि में देखे हुए बुरे स्वप्नों का प्रभाव मन पर अवश्य पड़ता है। और वह स्वप्न में पड़ा प्रभाव अवश्य ही दिन में कार्य में परिणत होने का प्रयत्न करेगा। इस लिये मन्त्र में कहा कि, जो जागते हुए तथा सोते हुए हमने पाप किया है, उस से हम छूट जायें। किस प्रकार ? जिस प्रकार कि बैल आदि खूंटे से छूट जाते हैं।

अब विचारणीय यह है कि, कौन छुड़ावे ? इस के लिये वेद ने कहा कि, "भूत और भव्य" अर्थात् भूतकाल और भविष्यकाल मुझे बुरे स्वप्नों से बचावें। भूत और भविष्यकाल मनुष्य को बुरे स्वप्नों से इसी तरह से बचा सकते हैं कि, मनुष्य को भूत में जो बुरे स्वप्नों का कटु अनुभव हुआ है, भविष्य में उस

से बचने के लिये वर्तमान में वह उन को दूर करने का बहुत बहुत प्रयत्न करता है। भूत की भयंकरता को याद कर के भविष्य को सुखी बनाने की आशा में ही वह दुष्वप्न्य आदि पाशों से बचने का प्रयत्न करता है। इस लिये वेद में कहा कि भूत और भविष्य हमें पाप से बचावें।

देवों से हेय स्वप्न—

इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति यन्ति प्रमादमतन्द्राः। (ऋ. ८।२।१८)

अर्थात् (देवाः) दिव्य पुरुष व दिव्य भाव (सुन्वन्तं) सवन, उत्पत्ति यज्ञ आदि करने वाले को (इच्छन्ति) चाहते हैं। (स्वप्नाय) सोने वाले, आलसी तथा स्वप्न लेने वाले को (न स्पृहयन्ति) नहीं चाहते हैं अथवा आलस्य तथा स्वप्न आदियों को नहीं चाहते हैं। (अतन्द्राः) आलसी न होते हुए वे (प्रमादम) प्रकृष्ट वा श्रेष्ठ आनन्द को (यन्ति) प्राप्त करते हैं।

इस मन्त्र में "स्वप्न" शब्द केवल स्वप्न के लिये ही नहीं आया। अपितु आलस्य आदि का भी वाचक होकर आया है, इस मन्त्र में बताया गया है कि देवपुरुष सवन अर्थात् यज्ञादि श्रेष्ठ कर्मों तथा उन कर्मों को करने वाले पुरुषों को चाहते हैं। अर्थात् उन से प्रेम करते हैं। स्वप्न, आलस्य आदि दुर्गुणों तथा ऐसे पुरुषों को वे बिल्कुल नहीं चाहते। दूसरे (देवाः) का अर्थ दिव्य गुण करने पर भी यही भाव है कि, दिव्य गुण भी उसी

पुरुष में प्रवेश करते हैं, जो कि यज्ञादि श्रेष्ठ कर्मों को करता है। आलस्य तथा स्वप्न आदि दुर्गुणों के वे पास तक नहीं फटकते। इस लिये इस से यह उपदेश दिया कि, दिव्य पुरुष बनने के लिये अथवा दिव्य गुणों को धारण करने के लिये यज्ञादि श्रेष्ठ कर्म करो, कोई सवन करो, अर्थात् उत्पत्ति करो। उत्पत्ति में ही शक्ति खर्च हो, विनाश में नहीं। और इस से यह भी स्पष्ट हो गया है कि, स्वप्न तथा आलस्य आदि को दूर करने का एक यह भी उपाय है कि, सवनादि श्रेष्ठ कर्म किये जायें। इस लिये हरेक व्यक्ति को स्वप्न आदि दुर्गुणों से बचने के लिये कोई भी कर्म करने से पहले यह सोचना चाहिये कि, मेरा यह अमुक कर्म विनाश करने वाला तो नहीं। यदि विनाश करने वाला है, तो यह अवश्य समझ लेना चाहिये कि, यह विनाशकारी कर्म अवश्य ही स्वप्नादि दुर्गुणों को पैदा करेगा।

अध स्वप्नस्य निर्विदेऽभुञ्जतश्च रेवतः।
उभा ता बस्रि नश्यतः॥ (ऋ० १।१२०।१२)

(अध) और (स्वप्नस्य) आलसी तथा स्वप्न लेने वाले तथा (अभुञ्जतश्च रेवतः) स्वयं ऐश्वर्य का भोग न करने वाले तथा औरों का पालन न करने वाले ऐश्वर्यशाली पुरुष से मैं (निविदे) उदासीन हूँ, अर्थात् दोनों को ही निकम्मा समझता हूँ। क्योंकि (ता उभा) वे दोनों (बस्रि) औरों को सुख न देने से शीघ्र ही (नश्यतः) नष्ट हो जाते हैं।

इस मन्त्र में भी यह बताया गया है कि, आलसी तथा

स्वप्न लेने वाला, और ऐश्वर्य का स्वयं उपभोग न कर के तथा दूसरों को भी उस से सुख न पहुँचाने वाला कंजूस आदमी दोनों ही घृणा के पात्र हैं। इन से मनुष्य को बचना चाहिये। कभी भी इन की संगति नहीं करनी चाहिये। यह अपना तो विनाश करते ही हैं। परन्तु समाज को भी अपने दुर्गुणों के कारण हानि पहुंचाते हैं। इस लिये यह यहां स्पष्ट कर दिया है कि, आलसी तथा स्वप्न लेने वाला आदमी शीघ्र विनाश को प्राप्त हो जाता है।

स्वप्नेनाभ्युप्या चुमुरिं धुनिं च जघन्थ दस्युं प्र दभीतिमावः।
रम्भी चिदत्र विविदे हिरण्यं सोमस्य ता मद इंद्रश्चकार॥
(ऋ. २।१५।९)

(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा (स्वप्नेन) स्वप्नादि के द्वारा (चुमुरिं) दूसरों के ऐश्वर्य पर मुंह लगाने वाले, (धुनिम्) अन्यों को दुःख देने वाले (दस्युम्) दुष्ट पुरुष को (अभि उप्य जघन्थ) चारों ओर से उखाड़ कर विनष्ट कर देता है, तथा (दभीतिं) हिंसक प्राणी को (आवः) उस के हिंसा आदि की प्रवृत्ति को दूर कर के श्रेष्ठ रूप में बना कर रखता है। (अत्र) इस राष्ट्र में (रम्भी-चित्) श्रेष्ठ कर्म करने वाला परिश्रमी व्यक्ति ही (हिरण्यम् विविदे) सुवर्णादि ऐश्वर्य को प्राप्त करता है, (सोमस्य ता मदे) सोमरूप ऐश्वर्य की प्राप्ति के आनन्द में ही वह व्यक्ति उन कर्मों को (चकार) करता है।

इस मन्त्र में राजा का यह कर्तव्य बताया गया है कि, जो व्यक्ति सदा आलस्य तथा स्वप्नादि दुर्गुणों में व्यस्त रह कर

अपने भोगविलास के लिये दूसरों के धनों को लूटना चाहते हैं, स्वयं तो कोई परिश्रम नहीं करते, अपितु दूसरे परिश्रमी व्यक्तियों के धनों को छीनने के लिये सदा नाना भांति के बुरे स्वप्न लिया करते हैं। ऐसे व्यक्तियों का विनाश करना राजा का कर्तव्य बताया गया है, राष्ट्र का भी ऐसा नियम होना चाहिये कि, सुवर्णादि ऐश्वर्य भी उन्हीं व्यक्तियों को प्राप्त हों जो कि सदा उद्योगी, परिश्रमी हों। इस लिये इस मन्त्र में स्वप्न लेने वाला आलसी व्यक्तियों का विनाश करना तथा किसी की सम्पत्ति का लूट न सकें ऐसा प्रबन्ध करना राजा का कर्तव्य बताया गया है।

यस्त्वा स्वप्नेन तमसा मोहयित्वा निपद्यते।
प्रजां यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि॥
(अ. २०।९६।१६)

यह मन्त्र जिस सूक्त का है, उस का देवता महर्षि दयानन्द ने "गर्भसंस्रावे प्रायश्चित्तम्" ऐसा माना है। इस उपर्युक्त मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

(यः) जो राक्षस (त्वा) तुझे (स्वप्नेन) स्वप्न रूपी (तमसा) अन्धकार से (मोहयित्वा) मोहकर (निपद्यते) तेरे पास आता है और (यः) जो (ते प्रजां) तेरी प्रजा आदि सन्तति को (जिघांसति) मारना चाहता है, (तमितो) उस को हम यहां से (नाशयामसि) विनष्ट कर देते हैं।

अर्थात् रात्रि में सोते हुए स्त्री को कोई ऐसा भयंकर स्वप्न दिखाई दे, जिस से कि यह प्रतीत हो कि कोई दुष्ट राक्षस उस के गर्भ को गिराना चाहता है, तो मन्त्र में उस के विनाश के लिये प्रार्थना की गई है। स्वप्न को यहां पर "तमस्" शब्द विशेषण दिया गया है। तमस् अन्धकार, अज्ञानादि को कहते हैं। इस से यह पता चलता है कि रात्रि में सोते हुए या अन्धकार में गर्भवती स्त्री को उपर्युक्त दुष्वप्न्य दिखाई दे सकते हैं और वे इतने भयंकर भी हो सकते हैं कि, गर्भपात तक हो जाये। इस लिये ऐसे दुष्वप्न्यों को दूर करने का मन्त्र में विधान किया गया है।

इत्योम्
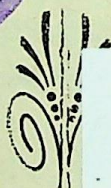
लेखक की 'ऋभु देवता' पुस्तक पर

सम्मतियां

स्वर्गीय नारायण स्वामी जी महाराज—

ग्रन्थ में विद्वतापूर्ण प्रकाश डाला गया है। एक बात जो किसी गम्भीर स्वाध्याय करने वाले से छिपी नहीं रह सकती, वह यही कि ग्रन्थकार ने वेद के भीतर घुसने का सफल प्रयत्न किया है। अनेक मार्मिक बातें, देवता का भेद खोलने के विषय प्रसंग में ग्रन्थ में अंकित हुई हैं।

श्री स्वामी अभयदेव जी महाराज—

यह खोज और परिश्रम के साथ लिखी गई पुस्तक है। वेद सम्बन्धी ऐसी ही पुस्तकों की विशेष आवश्यकता है।

श्री पं० सातवलेकर जी, औंध—

आपका प्रयत्न अच्छा है, आप वेदों की खोज करिये, आप अवश्य सफल होंगे। इसकी पद्धति मुझे अच्छी विदित हुई है।

श्री पं० विश्वनाथ जी भूतपूर्व वेदोपाध्याय—

बहुत गवेषणा पूर्ण है! आपके मुख्य विचारों के साथ मैं सहमत हूं। अन्त में जो आपने ऋभु सम्बन्धी मन्त्रों की व्याख्या देदी है वह बहुत उपयोगी है।

श्री पं० गंगा प्रसाद जी, चीफ जज टीहरी—

मैंने आपकी पुस्तक आदि से अन्त तक पढ़ी। आपका परिश्रम प्रशंसनीय है।

श्री पं० रामनाथ जीं वेदोपाध्याय, गुरुकुल कांगड़ी—

लेखक ने बड़ी उत्तमता पूर्वक यह प्रति[illegible]दित किया है कि वेद में ऋभु देवताओं का क्या अर्थ लेना चाहिये। पुस्तक प्रत्येक वेद प्रेमी के पढ़ने योग्य है।

श्रद्धानन्द-स्मारक-निधि

गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी में इस कुल के पिता, अमरकीर्ति, स्वर्गीय श्रद्धेय स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज की पुण्यस्मृति में एक 'श्रद्धानन्द-स्मारक-निधि' स्थापित हुई है। जो सज्जन चाहें वे इन श्रद्धेय स्वामी जी की स्मृति में इस कुल को प्रतिवर्ष दस या इससे अधिक रुपये देने का प्रतिज्ञापत्र भर कर इसके सभासद् बन सकते हैं। अभी तक ऐसे सभासदों का हमारा परिवार लगभग पांच सौ सज्जनों का बन चुका है। इन्हीं सज्जनों को प्रतिवर्ष गुरुकुलोत्सव पर भेंट करने के लिये यह 'स्वाध्यायमञ्जरी' गुरुकुल से प्रकाशित की जाती है।